प्रधान सम्पादक
साहित्यवाचस्पति म. विनयसागर

प्राकृत भारती पुष्प-१३१

हमारे तीर्थंकर

(चौबीस तीर्थंकरों का संक्षिप्त/सरल परिचय)

दिशा निर्देशक :
आचार्य सम्राट पूज्य श्री देवेन्द्र मुनि जी म.

लेखक
जैन धर्म दिवाकर आचार्य सम्राट पूज्य
श्री देवेन्द्र मुनि जी म.
के अन्तेवासी शिष्य
दिनेश मुनि

प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर
श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, उदयपुर

जैन धर्म दिवाकर आचार्य सम्राट पूज्य
श्री देवेन्द्र मुनि जी म. की प्रथम
पुण्य तिथि पर प्रकाशित

- ☐ पुस्तक : हमारे तीर्थंकर
- ☐ लेखक : दिनेश मुनि
- ☐ प्रेरक : बालयोगी श्री द्वीपेन्द्र मुनि
- ☐ अवतरण : दि. १४.५.२००० आचार्य देवेन्द्र प्रथम पुण्य तिथि

प्राप्ति स्थान :

प्राकृत भारती अकादमी,
६३-ए,मेन मालवीय नगर,
जयपुर-३०२०१७ (राज.)
☎ ०१४१-५२४८२७, ५२४८३८

श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय,
गुरु पुष्कर मार्ग,
उदयपुर-३१३००१ (राज.)
☎ ०२९४-४१३५१८

- ☐ मूल्य : ७०.०० रुपये

लेजरटाईपसेटिंग :
कम्प्यू प्रिण्ट्स, जयपुर-३
दूरभाष: ३२३४९६

मुद्रक :
कमल प्रिंटर्स, जयपुर

आत्मीय-आशीष

-आचार्य देवेन्द्र मुनि

तीर्थंकर जैन परम्परा का एक ऐसा गरिमापूर्ण पारिभाषिक शब्द है, जिसका प्रयोग आगम साहित्य और उसके उत्तरवर्ती साहित्य में पुनः-पुनः हुआ है। प्रस्तुत परम्परा में वर्तमान अवसर्पिणी काल के जो चौबीस तीर्थंकर हुए हैं उनका जीवन चरित्र अद्यावधि भी सप्राण प्रेरणा का पावन पाथेय रूप है और रहेगा।

मुझे अत्यधिक प्रसन्नता है कि कर्मठ अध्यवसायी सेवामूर्ति अन्तेवासी शिष्य दिनेश मुनि ने चौबीस तीर्थंकरों के विषय में मेरी हार्दिक भावना के अनुरूप आलेखन किया है। भाव, भाषा और शैली इन तीनों ही दृष्टियों से यह पुस्तक विशेष रूपेण उपयोगी है। यह महत्वपूर्ण पुस्तक श्रद्धालु पाठकों और स्वाध्यायशील बन्धुओं के लिए ज्ञानवर्धक सिद्ध होगी।

इसी प्रकार लेखक मुनि भविष्य में भी गणधर, उपासक प्रभृति विषयों पर भी जनोपयोगी लेखन कार्य करते हुए जिन शासन की प्रभावना में योग-दान देता रहे, यही मेरा आन्तरिक आशीर्वाद है।

महावीर भवन
इन्दौर

समर्पण

जिनके
परम पावन सान्निध्य
में मैंने
संयम मार्ग पर चलना सीखा,
जिनके मार्गदर्शन में
मेरे अज्ञान रूपी अंधकार में
ज्ञान रूपी किरण प्रज्ज्वलित हुई,
उन परम आराध्य गुरुदेव
जैन धर्म दिवाकर महामहिम
आचार्य सम्राट पूज्य
श्री देवेन्द्र मुनि जी म.सा.
के परम पावन श्री चरणों में
सश्रद्धा, सभक्ति, सादर
समर्पित.....।

-दिनेश मुनि

प्रकाशकीय

प्राचीन जैन साहित्य में किसी एक स्थान पर सभी २४ तीर्थंकरों के जीवन-चरित्र बहुत कम उपलब्ध हैं। मुख्यतया भगवान महावीर, भगवान पार्श्वनाथ, भगवान नेमिनाथ, भगवान शान्तिनाथ, भगवान ऋषभदेव के जीवन चरित्र ही पुरा साहित्य में उपलब्ध हैं और पश्चातवर्ती काल में भी अधिक कार्य इन्हीं पर हुआ है। संभवतः सर्वप्रथम ऐसे महापुरुषों के चरित्र एक स्थान पर देने का कार्य शीलांकाचार्य ने चउप्पन्न-महापुरुष-चरियं में तथा हेमचन्द्राचार्य ने त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित्र में किया था।

शायद यही कारण है कि आज भी कोई ऐसी पुस्तक ढूँढें जिनमें सभी तीर्थंकरों के चरित्र सम्मिलित हों, तो दो-चार पुस्तकें मिल पाना भी कठिन हो जाता है। जैन धर्म दिवाकर आचार्य सम्राट श्री देवेन्द्र मुनि जी. म. के विद्वान शिष्य श्री दिनेश मुनि जी ने इस अभाव की पूर्ति के लिए एक सराहनीय प्रयास किया है। हम उसी प्रयास को तारक गुरु ग्रन्थालय के साथ प्राकृत भारती पुष्प संख्या-१३१ के रूप में अपने पाठकों के समक्ष प्रस्तुत कर रहे हैं। हम मुनि श्री के आभारी हैं।

सहज ग्राह्य भाषा तथा रोचक शैली में लिखी इस रचना में तीर्थंकरों के पूर्व-भवों से आरंभ कर जैन पौराणिक साहित्य में उपलब्ध प्रायः समस्त सामग्री के आधार पर सभी तीर्थंकरों के जीवन-चरित्र लिखे गए हैं। यह पुस्तक अपनी सरल भाषा-अभिव्यक्ति के कारण बालोपयोगी भी सिद्ध होगी।

पुस्तक प्रकाशन में सहयोगी समस्त महानुभावों का धन्यवाद!

निदेशक,
प्राकृत भारती अकादमी,
जयपुर

अध्यक्ष,
श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय,
उदयपुर

लेखकीय

हमारा इन्दौर का वर्षावास हेतु प्रवेश सम्पन्न होने के साथ दर्शनार्थियों का आवागमन भी होने लगा। अनेक दर्शनार्थी जिज्ञासु होते हैं और वे प्रश्नों के माध्यम से अपनी जिज्ञासा प्रकट कर समाधान प्राप्त करते हैं। कुछ जिज्ञासु दर्शनार्थी ऐसे भी होते हैं जो अपनी भावना एवं समय की मांग के अनुरूप कुछ सम्यक् सुझाव भी प्रस्तुत करते रहते हैं। ऐसे सुझावों को/प्रस्तावों को ध्यान में रखा जाता है और परिस्थिति के अनुरूप सोच-विचार कर उसे क्रियान्वित करने का प्रयास भी किया जाता है। ऐसे ही एक दिन एक श्रद्धालु श्रावक ने परम श्रद्धेय आचार्य श्री देवेन्द्र मुनि जी म.सा. के समक्ष एक प्रस्ताव रखा कि चौबीस तीर्थंकरों पर सरल भाषा शैली में एक पुस्तक का प्रकाशन करवाया जावे। सभी तीर्थंकर भगवंतों का जीवन परिचय संक्षिप्त हो, किंतु उसमें सभी बातें सम्यक् रूप से आ जावें। उस समय मैं श्रद्धेय आचार्य भगवन् के समीप ही था। जब यह प्रस्ताव आया तो आचार्य भगवन् ने मेरी ओर देखकर कुछ कहना चाहा किंतु तभी कुछ अन्य दर्शनार्थी आ गए और बात वहीं रह गई। तीन-चार दिन बाद आचार्य भगवन् ने फरमाया-"दिनेश! तुम्हें स्मरण होगा, एक भाई ने तीर्थंकरों पर सरल भाषा शैली में पुस्तक तैयार करने का प्रस्ताव किया था। मैं चाहता हूँ कि यह पुस्तक इसी वर्षावास में तुम तैयार कर लो।"

"आपका आशीर्वाद एवं मार्गदर्शन रहा तो यह कार्य सम्पन्न करने का पूरा प्रयास करूँगा।" मैंने उत्तर दिया। बस उसी समय से मैं मानसिक तैयारी में लग गया। तीर्थंकर चरित पर अद्यावधि प्रकाशित कुछ पुस्तकें मँगवा कर अध्ययन करना शुरू कर दिया। मैं वैचारिक दृष्टि से रूपरेखा तैयार करने लगा। यह पुस्तक भाषा की दुरूहता और शोध की जटिलता से अलग हो। जब मैं मानसिक रूप से तैयार हो गया तो इस विषय पर आचार्य भगवन् से अपने विचारानुसार लेखन प्रारम्भ करने के लिए मार्गदर्शन प्राप्त किया। उनके दिशादर्शन ने मेरा मार्ग प्रशस्त कर दिया। पुस्तक का लेखन चलता रहा। वर्षावास का समय होने के कारण दर्शनार्थियों का आवागमन भी

होता रहा। लेखन कभी निरन्तर चलता तो कभी अन्य कार्यों के कारण बाधित हो जाता। मैं बिना समय खोये इसमें लगा रहा। मेरा लक्ष्य यही था कि वर्षावास की अवधि में यह कार्य सम्पन्न हो जावे, कारण कि फिर विहार काल में लेखन सम्पन्न नहीं हो पाता है। इस अवधि में संदर्भ ग्रंथों की उपलब्धता की समस्या भी रहती है।

वर्षावास समाप्त होते-होते मेरा लेखन कार्य समाप्त हो गया। परम श्रद्धेय आचार्य भगवन् ने इसका अवलोकन भी कर लिया। आशीर्वचन भी लिख दिया, वे इसकी भूमिका लिखने वाले थे किंतु वर्षावास समाप्त होने पर हमारा विहार हो गया। जब इन्दौर के उपनगर जानकी नगर में मैंने आचार्य भगवन् से इस विषयक निवेदन भी किया था। अनुकूलता न होने के कारण वहाँ पर भी भूमिका नहीं लिख पाये और हमारा विहार हो गया। विहार में ही आचार्य भगवंत अस्वस्थ हो गये। बम्बई पहुँचने पर भी लेखन की अनुकूलता नहीं हो सकी और यह कार्य अपूर्ण ही रह गया।

मुम्बई में स्वास्थ्य-परीक्षण के पश्चात् आचार्य श्री ने अपना वर्ष १९९९ का चातुर्मास औरंगाबाद घोषित कर दिया और उसके लिए प्रस्थान कर २४ अप्रैल को घाटकोपर पधार गये। २५ अप्रैल को आपश्री का स्वास्थ्य कुछ नरम था, ज्वर भी था परन्तु ऐसा कुछ भी पूर्वाभास नहीं हुआ कि इस प्रकार अचानक ही स्वास्थ्य धोखा दे जायेगा।

२५ अप्रैल की रात को आपश्री को भीतर से काफी बेचैनी महसूस हो रही थी। परन्तु फिर भी अपनी क्रियाओं से, व्यवहार से किसी को भी कुछ प्रकट नहीं होने दिया। उस रात लगभग १० बजे से २ बजे तक आप बैठे-बैठे माला ही फेरते रहे। मैंने उठकर कई बार पूछा-"भगवन्! क्या बात है? कैसा लग रहा है?" परन्तु आप एक सहज समाधि की दशा में शान्ति से विराजे रहे और एक ही उत्तर देते-"बेटा, चिन्ता की कोई बात नहीं, तुम चिन्ता मत करो।" प्रातः सूर्योदय के पश्चात् श्वास लेने में अत्यधिक परेशानी होने लगी, तब डॉक्टर साहब आये। उन्होंने इंजेक्शन दिया, परन्तु किसे पता था कि आयुष्य की डोर समाप्त हो चुकी है। आपश्री को अत्यधिक वेदना अनुभव होने लगी। तब मैंने पूछा-"भगवन्! पच्चक्खाण करा दूँ। सागारी संथारा पचखा दूँ।" आपश्री ने कहा-"हाँ, पच्चक्खाण करा दे।" मैंने सभी संतों की उपस्थिति में पच्चक्खाण कराया और कुछ ही समय बाद लगभग ८ बजकर ३० मिनट पर हमारे

भाग्य-विधाता हमें छोड़कर महायात्रा पर प्रस्थान कर गये।

परम श्रद्धेय आचार्य भगवन् के देवलोक गमन से सब कुछ अस्त-व्यस्त हो गया। सभी को एक गहरा आघात लगा था। ऐसी विषम परिस्थिति में लेखन के विषय में तो कल्पना ही नहीं की जा सकती थी। बम्बई से हमारा विहार औरंगाबाद की ओर हुआ। कारण कि आचार्य भगवन् ने औरंगाबाद श्री संघ को वि.सं. २०५६ के वर्षावास के लिए अपनी स्वीकृति प्रदान कर दी थी। उनकी भावनानुसार ही हमारा विहार उस ओर हुआ।

वर्षावास प्रारम्भ होने के पश्चात् बालयोगी श्री द्वीपेन्द्र मुनि ने तीर्थंकर विषयक इस पुस्तक की पाण्डुलिपि तैयार करने की प्रेरणा प्रदान की, मैं भी इसे अन्तिम रूप देना ही चाह रहा था। एक बार पुनः पांडुलिपि का अध्ययन/अवलोकन किया और अन्तिम रूप दे दिया।

इस पुस्तक के लेखन में श्रद्धेय आचार्य भगवन्त का मार्गदर्शन तथा साध्वी रत्ना गुरुणी जी म.श्री पुष्पवती जी व बालयोगी द्वीपेन्द्र मुनि की सद्प्रेरणा सतत मिलती रही। अतः मैं उनके प्रति हृदय से कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

इसमें डॉ. तेजसिंह जी गौड़ का सहयोग मुझे मिला, उनको साधुवाद देता हूँ और यही अपेक्षा है कि इसी प्रकार का सहयोग भविष्य में भी मिलता रहेगा।

इस दिशा में मेरा यह प्रथम प्रयास है। "हमारे तीर्थंकर" में जिन आराध्य पुरुषों का ज्योतिर्मय जीवन चरित्र वर्णित है, वे महापुरुष हमारे लिए जीवन-निर्माण की पावन प्रेरणा प्रदान करते हैं। मुझे विश्वास है कि मेरा यह लघुतम उपक्रम बालक, युवा और वृद्ध के लिए उपयोगी सिद्ध होगा और वे इस पुस्तक का स्वाध्याय कर अपने जीवन को आचार और विचार से प्रकाशमान करेंगे।

धनतेरस वि.सं. २०५६
आचार्य श्री देवेन्द्र जन्म जयन्ती
महावीर भवन, औरंगाबाद

-दिनेश मुनि

अनुक्रमणिका

पृष्ठ संख्या

१. **भगवान् ऋषभदेव** १
पूर्वभव, जन्म एवं माता-पिता, नामकरण, वंश, अकाल मृत्यु एवं विवाह, सन्तति, विवाह-प्रथा, प्रथम राजा, राज्य-व्यवस्था, दण्ड-व्यवस्था, असि-मसि और कृषि, नवीन युग का सूत्रपात, सेना-व्यवस्था, वर्ण-व्यवस्था, संस्कृति के आद्य निर्माता, साधक-जीवन, साधुचर्या, केवलज्ञान, माता मरुदेवी की चिंता, तीर्थ-स्थापना, अठानवें भाइयों द्वारा दीक्षा व्रत लेना, भरत और बाहुबली, बाहुबली की तपस्या, बाहुबली को केवलज्ञान, आदि परिव्राजक मरीचि, भरत को मोक्ष, परिनिर्वाण धर्म-परिवार।

२. **भगवान् अजितनाथ** २२
पूर्वभव, जन्म एवं वंश, नामकरण, गृहस्थ-जीवन और राज्य, राज्य का त्याग, वर्षीदान एवं दीक्षा, साधना और केवल-ज्ञान, परिनिर्वाण, धर्म परिवार।

३. **भगवान् संभवनाथ** २७
पूर्वभव, जन्म एवं वंश, नामकरण, गृहस्थ-जीवन और राज्य, दीक्षा एवं केवलज्ञान, देशना एवं तीर्थ-स्थापना, परिनिर्वाण, धर्म-परिवार।

४. **भगवान् अभिनन्दननाथ** ३२
पूर्वभव, जन्म एवं वंश, नामकरण, गृहस्थ-जीवन और राज्य, दीक्षा एवं केवलज्ञान, देशना एवं तीर्थ-स्थापना, परिनिर्वाण, धर्म-परिवार।

५. भगवान् सुमतिनाथ ३६
पूर्वभव, जन्म एवं वंश, नामकरण, गृहस्थ-जीवन एवं राज्य,
दीक्षा और केवलज्ञान, परिनिर्वाण, धर्म-परिवार।

६. भगवान् पद्मप्रभ ४१
पूर्वभव, जन्म एवं वंश, नामकरण, गृहस्थ-जीवन एवं राज्य,
दीक्षा एवं केवलज्ञान, परिनिर्वाण, धर्म-परिवार।

७. भगवान् सुपार्श्वनाथ ४४
पूर्वभव, जन्म एवं वंश, नामकरण, गृहस्थ-जीवन एवं राज्य,
दीक्षा और केवलज्ञान, परिनिर्वाण, धर्म-परिवार।

८. भगवान् चन्द्रप्रभ ४७
पूर्वभव, जन्म एवं वंश, नामकरण, गृहस्थ-जीवन एवं राज्य,
दीक्षा एवं केवलज्ञान, परिनिर्वाण, धर्म-परिवार।

९. भगवान् सुविधिनाथ ५१
पूर्वभव, जन्म एवं वंश, नामकरण, गृहस्थ-जीवन एवं राज्य,
दीक्षा एवं केवलज्ञान, परिनिर्वाण, तीर्थ विच्छेद, धर्म-परिवार।

१०. भगवान् शीतलनाथ ५५
पूर्वभव, जन्म एवं वंश, नामकरण, गृहस्थ-जीवन और राज्य,
दीक्षा एवं केवलज्ञान, परिनिर्वाण, धर्म-परिवार।

११. भगवान् श्रेयांसनाथ ५९
पूर्वभव, जन्म एवं वंश, नामकरण, गृहस्थ-जीवन एवं राज्य,
दीक्षा एवं केवलज्ञान, विशिष्ट प्रभाव, परिनिर्वाण, धर्म-परिवार।

१२. भगवान् वासुपूज्य ६३
पूर्वभव, जन्म एवं वंश, नामकरण, गृहस्थ-जीवन और राज्य,
दीक्षा एवं केवलज्ञान, धर्म-प्रभाव, परिनिर्वाण, धर्म-परिवार।

१३. भगवान् विमलनाथ ६८
पूर्वभव, जन्म एवं वंश, नामकरण, गृहस्थ-जीवन एवं राज्य,
दीक्षा एवं केवलज्ञान, धर्म प्रभाव, परिनिर्वाण धर्म-परिवार।

१४. भगवान् अनन्तनाथ ७२
पूर्वभव, जन्म एवं वंश, नामकरण, गृहस्थ-जीवन एवं राज्य,
दीक्षा एवं केवलज्ञान, धर्म-प्रभाव, परिनिर्वाण, धर्म-परिवार।

१५. **भगवान् धर्मनाथ** ७५
पूर्वभव, जन्म एवं वंश, नामकरण, गृहस्थ-जीवन एवं राज्य, दीक्षा एवं केवलज्ञान, धर्म प्रभाव, परिनिर्वाण, धर्म-परिवार।

१६. **भगवान् शांतिनाथ** ७९
पूर्वभव, जन्म एवं वंश, नामकरण, गृहस्थ-जीवन और राज्य, दीक्षा एवं केवलज्ञान, परिनिर्वाण, धर्म-परिवार।

१७. **भगवान् कुन्थुनाथ** ८६
पूर्वभव, जन्म एवं वंश, नामकरण, गृहस्थ-जीवन और राज्य, दीक्षा एवं केवलज्ञान, परिनिर्वाण, धर्म-परिवार।

१८. **भगवान् अरनाथ** ८९
पूर्वभव, जन्म एवं वंश, नामकरण, गृहस्थ जीवन और राज्य, दीक्षा एवं केवलज्ञान, परिनिर्वाण, धर्म-परिवार।

१९. **भगवान् मल्लिनाथ** ९३
पूर्वभव, जन्म एवं वंश, नामकरण, अलौकिक सौन्दर्य, मित्रों को प्रतिबोध, दीक्षा एवं केवलज्ञान, परिनिर्वाण, धर्म-परिवार।

२०. **भगवान् मुनिसुव्रत** १०१
पूर्वभव, जन्म एवं वंश, नामकरण, गृहस्थ-जीवन और राज्य, दीक्षा एवं केवलज्ञान, परिनिर्वाण, धर्म-परिवार।

२१. **भगवान् नमिनाथ** १०५
पूर्वभव, जन्म एवं वंश, नामकरण, गृहस्थ-जीवन एवं राज्य, दीक्षा एवं केवलज्ञान, परिनिर्वाण, धर्म-परिवार।

२२. **भगवान् अरिष्टनेमि** १०८
पूर्वभव, जन्म एवं वंश, नामकरण, हरिवंश की उत्पत्ति, बाल्यकाल, अपरिमित/अद्भुत शक्ति के स्वामी, बल-परीक्षण, विवाह-प्रसंग, दीक्षा एवं केवलज्ञान, राजीमती द्वारा दीक्षा ग्रहण, भविष्यवाणी, परिनिर्वाण, धर्म-परिवार।

२३. **भगवान् पार्श्वनाथ** १२२
पूर्वभव, जन्म एवं वंश, नामकरण, नाग का उद्धार, दीक्षा, अभिग्रह, उपसर्ग, केवलज्ञान, परिनिर्वाण, धर्म-परिवार, भगवान् का चातुर्याम धर्म, विहार क्षेत्र एवं प्रभाव।

२४. भगवान् महावीर स्वामी १३३
पूर्वभव, जन्म एवं वंश, गर्भ-परिवर्तन, प्रतिज्ञा, नामकरण, बाल-लीला, विद्यालय में, विवाह, दीक्षा, अभिग्रह, उपसर्ग एवं पारणा, साधना का प्रथम वर्ष, यक्ष का उपद्रव, साधना का दूसरा वर्ष, चण्डकौशिक-हिंसा पर अहिंसा की विजय, साधना का तीसरा वर्ष, साधना का चौथा वर्ष, साधना का पांचवाँ वर्ष, साधना का छठा वर्ष, साधना का सातवाँ वर्ष, साधना का आठवाँ वर्ष, साधना का नौवाँ वर्ष, साधना का दसवाँ वर्ष, साधना का ग्यारहवाँ वर्ष, संगम देव के उपसर्ग, जीर्ण सेठ की भावना, साधना का बारहवां वर्ष, चमरेन्द्र द्वारा शरण ग्रहण, चन्दनबाला का उद्धार, साधना का तेरहवाँ वर्ष, भीषण उपसर्ग, छद्मस्थकालीन साधना, केवलज्ञान की प्राप्ति, मध्यमापावा में समवसरण, गोशालक का उद्धार, परिनिर्वाण, धर्म-परिवार।

□□□

हमारे तीर्थंकर

णमो उवज्झायाणं

साधना के शिखर पुरुष उपाध्याय

श्री पुष्कर मुनि जी म.

साधना के शिखर पुरुष उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी म.

जन्म-सन् १९१०
आश्विन शुक्ला १४

स्वर्गवास ३ अप्रैल १९९८
चैत्र शुक्ला ११

अध्यात्म योगी उपाध्याय पूज्य गुरुदेव श्री पुष्कर मुनिजी म. भारतीय संत परम्परा के एक ओजस्वी तेजस्वी और वर्चस्वी संत रत्न थे और वे सिद्ध जपयोगी, ज्ञानयोगी, ध्यानयोगी महापुरुष थे। जिनका अद्भुत व्यक्तित्व व कृतित्व जन-जन के लिए प्रेरणा का पावन प्रतिष्ठान था। वे कवि थे, लेखक थे, चिन्तक थे और थे मनस्वी और यशस्वी साहित्यकार। उनका साहित्य सद्विचारों का अक्षयकोष है। उसमें जड़ शब्दों का नहीं, अपितु जीवन का बोलता हुआ भाष्य है जो जीवनोत्थान की मंगलमयी पावन प्रेरणा प्रदान करता है।

मेवाड़ की उस माटी में उनका जन्म हुआ जहाँ पर महाराणा प्रताप का राजतिलक हुआ था और वे उस कुल में जन्मे थे जो सदा ही सरस्वती का उपासक रहा। यही कारण है, उनमें एक ओर क्षात्रियोचित वीरता थी तो दूसरी ओर ज्ञान से मंडित जीवन था। यह मणिकांचन संयोग विरले जीवन में ही देखने को मिलता है। जो कलम के धनी होते हैं वे सफल वक्ता नहीं होते, पर गुरुदेव श्री कलम-कलाधर भी थे तो प्रभावशाली वक्ता भी थे। वे शेर की तरह दहाड़ते थे। उनके प्रवचनों में जहाँ विषय का तलस्पर्शी विवेचन था वहाँ पर सरसता भी भरपूर थी। प्रवचनों को श्रवण करते-करते श्रोता आनन्द से झूमने लगते थे।

१४ वर्ष की लघुवय में जिन्होंने साधना के पथ पर मुस्तैदी से कदम बढ़ाए और सरिता के सरसधारा की तरह निरन्तर बढ़ते ही चले गये। विविध भाषाओं का व विविध दर्शनों का गहराई से अनुशीलन परिशीलन किया। भारत के विविध अंचलों में पैदल परिभ्रमण कर जन जागृति का शंखनाद फूंका और आपश्री के तेजस्वी व्यक्तित्व से प्रभावित होकर पूर्व राष्ट्रपति ज्ञानी जैलसिंह जी ने वर्ष १९८४ में विश्वसंत की उपाधि से समलंकृत किया था।

अप्रैल १९९८ को आपका उदयपुर में समाधिपूर्वक स्वर्गवास हुआ। जीवनकला के वे जहाँ सच्चे पारखी थे वहाँ पर मृत्युकला में भी निष्णात थे। उन्होंने हँसते-हँसते मृत्यु का वरण कर यह सिद्ध कर दिया कि भेद विज्ञान समुत्पन्न होने पर मृत्यु भी वरदान बन जाती है। वह साधक देहातीत बन जाता है। उनका जीवन भी मंगलमय था और मृत्यु भी मंगलमय थी। जीवन का कण-कण व अणु-अणु मंगलमय था। वे मंगलमूर्ति थे।

-आचार्य देवेन्द्र मुनि

णमो आयरियाणं

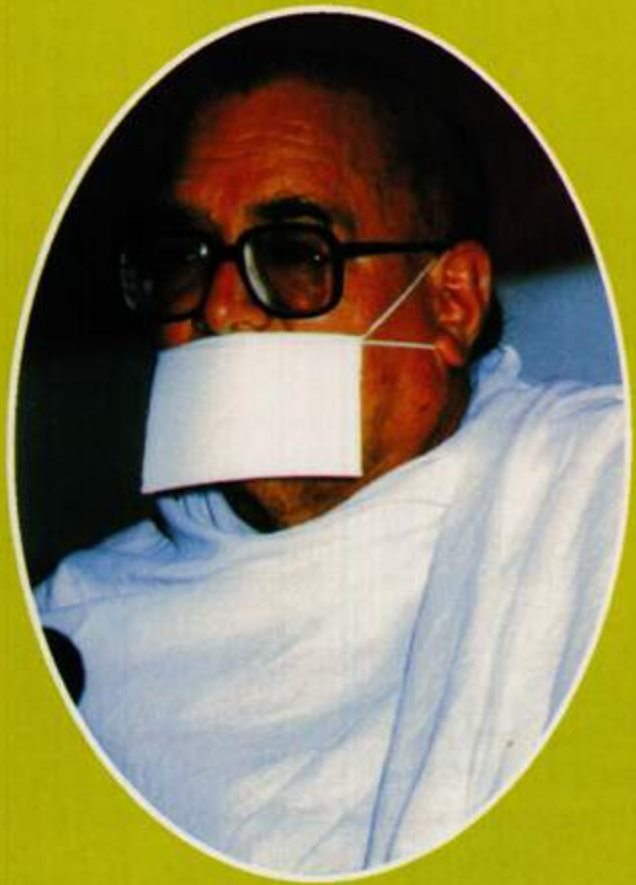

जैन धर्म दिवाकर आचार्य सम्राट पूज्य

श्री देवेन्द्र मुनि जी म.

प्रज्ञापुरुष आचार्य : श्री देवेन्द्र मुनि जी

साधुता, सरलता से दीप्तिमान होती है,
विद्या, विनय से शोभित होती है,
सबके प्रति सद्भाव, समभाव और सबके लिए हित-कामना से संघनायक का पद गौरवान्वित होता है।

श्रद्धेय आचार्य श्री देवेन्द्र मुनि जी के साथ यदि आप कुछ क्षण बितायेंगे और उनके विचार, व्यवहार को समझेंगे तो आप अनुभव करेंगे-ऊपर की पंक्तियाँ। उनकी जीवन-धारा पर बहती हुई वह त्रिवेणी धारा है, जिसमें अवगाहन करके सुख, शान्ति और संतोष का अनुभव होगा।

श्रुत की सतत समुपासना और निर्दोष निष्काम सहज जीवनशैली, यही है आचार्य श्री देवेन्द्र मुनि जी महाराज का परिचय। छोटे-बड़े, अमीर-गरीब सभी के साथ शालीन व्यवहार, मधुर स्मित के साथ संभाषण और जन-जन को संघीय एकतासूत्र में बांधे रखने का सहज प्रयास; आचार्य श्री देवेन्द्र मुनि जी की विशेषताएँ हैं।

वि.सं. १९८८ धनतेरस (कार्तिक कृष्णा १३) ७-११-१९३१ को उदयपुर में जन्म।

वि.सं.१९९७, फाल्गुन शुक्ला तृतीया १ मार्च १९४१ को गुरुदेव उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी महाराज सा. के चरणों में भागवती जैन दीक्षा।

वि.सं.२०४९, १५ मई १९९२ अक्षय तृतीया को श्रमण संघ के आचार्य पद पर प्रतिष्ठा।

प्राकृत-संस्कृत, गुजराती, मराठी, हिन्दी आदि भाषाओं पर अधिकार, पूर्ण ज्ञान तथा आगम, वेद, उपनिषद्, पिटक, व्याकरण, न्याय, दर्शन, साहित्य, इतिहास आदि विषयों का व्यापक अध्ययन, अनुशीलन और धारा-प्रवाह लेखन।

लिखित/संपादित/प्रकाशित पुस्तकों की संख्या ४०० से अधिक। लगभग पचास हजार से अधिक पृष्ठों की सामग्री।

विनय, विवेक, विद्या की त्रिवेणी में सुस्नात पवित्र जीवन; इन सबका नाम है आचार्य श्री देवेन्द्र मुनि जी महाराज।

वैशाख शुक्ला ११ सोमवार दि. २६-४-१९९१ को प्रातः संथारे के साथ बम्बई घाटकोपर में महानिर्वाण को प्राप्त हुए।

-दिनेश मुनि

१ भगवान् ऋषभदेव

वृषभ

यह शाश्वत सत्य है कि जब किसी प्रचलित व्यवस्था का ह्रास होता है तो एक नई व्यवस्था का जन्म होता है। जिस समय भौगोलिक व्यवस्था पतनोन्मुखी थी उस समय कुलकरों की व्यवस्था का अंतिम समय था। अंतिम कुलकर नाभिराय समस्याओं में अपने आपको असमर्थ पा रहे थे और वे उत्तरदायित्व से मुक्त होना चाहते थे, उस समय भगवान् ऋषभदेव का जन्म हुआ। तीर्थंकर का जन्म भव-भवों की साधना का फल होता है। भगवान् ऋषभदेव के जीव ने भी अपने पूर्वभवों में साधना करते हुए वज्रनाभ के भव में तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन किया जिसके फलस्वरूप भगवान् ऋषभदेव का जन्म हुआ।

पूर्वभव :

भगवान् ऋषभदेव के तेरह भवों का उल्लेख श्वेताम्बर ग्रन्थों में मिलता है। प्रथम भव में ऋषभदेव का जीव धन्ना सार्थवाह था, दूसरे भव में उत्तर कुरु भोगभूमि में मानव, तीसरे भव में सौधर्म देवलोक में उत्पन्न हुए। चौथे भव में महाबल बने और इसी भव में श्रमणधर्म को स्वीकार किया। पांचवें भव में ललिताङ्ग देव, छठे भव में वज्रजंघ, सातवें भव में उत्तरकुरु भोगभूमि में युगलिया, आठवें भव में सौधर्मकल्प में देव, नवें भव में जीवानन्द वैद्य हुए। दसवें भव में बारहवें देवलोक में उत्पन्न हुए। ग्यारहवें भव में पुष्कलावती में वज्रनाभ चक्रवर्ती बने। इस भव में संयम ग्रहण कर चौदह पूर्वों का अध्ययन किया। उत्कृष्ट साधना कर तीर्थंकर नाम कर्म का उपार्जन किया। बारहवें भव में सर्वार्थसिद्धि विमान में उत्पन्न हुए। तेरहवें भव में विनीता नगरी में ऋषभदेव के रूप में जन्म लिया।

जन्म एवं माता-पिता :

अंतिम कुलकर नाभिराय के समय भौगोलिक व्यवस्था का अंत हो रहा था और एक नवीन व्यवस्था का उदय होने जा रहा था। यह दो सभ्यताओं का संधिकाल था। उस समय में वज्रनाभ का जीव सर्वार्थसिद्धि विमान से च्यवकर आषाढ़ कृष्णा चतुर्थी के दिन उत्तराषाढ़ा नक्षत्र में, चन्द्र योग के समय

जब तीसरे आरे के चौरासी लक्षपूर्व, तीन वर्ष साढ़े सात मास अवशेष थे, कुलकर नाभिराय की जीवन-संगिनी मरुदेवी की कुक्षि में उत्पन्न हुआ। ऋषभदेव के गर्भ में आने पर माता मरुदेवी ने चौदह स्वप्न देखे। यथा—(१) वृषभ, (२) गज, (३) सिंह, (४) लक्ष्मी, (५) पुष्पमाला, (६) चन्द्र, (७) सूर्य, (८) ध्वजा, (९) कुम्भ, (१०) पद्म सरोवर, (११) क्षीर-समुद्र (१२) विमान, (१३) रत्नराशि, (१४) निर्धूम अग्नि।

माता मरुदेवी चौदह स्वप्नों को देखकर पुलकित हो गई। एक अज्ञात प्रसन्नता उनके रोम-रोम में समा गई। मरुदेवी ने नाभिराय को चौदह स्वप्नों के सम्बन्ध में बताया और उनका फल पूछा। नाभिराय स्वप्नों को सुनकर आश्चर्यचकित रह गए। यद्यपि वे स्वप्न-शास्त्र के ज्ञाता नहीं थे फिर भी अपनी तीक्ष्ण विचार शक्ति से स्वप्नों का फल बताते हुए उन्होंने बताया—तुम एक अलौकिक पुत्ररत्न की माता बनोगी। उन्होंने यह भी आशा प्रकट की कि अब शीघ्र ही उनकी समस्याओं का निदान हो जायेगा, चिंता समाप्त हो जायेगी।

गर्भकाल पूर्ण हुआ और चैत्र कृष्णा अष्टमी की मध्य रात्रि में माता मरुदेवी ने एक पुत्र तथा एक पुत्री को युगल रूप में जन्म दिया। जैन श्वेताम्बर साहित्य में उल्लेख है कि भगवान् ऋषभदेव के जन्म लेते ही सम्पूर्ण विश्व पुलकित हो उठा। सभी अज्ञात शांति का अनुभव करने लगे। क्षणभर के लिए नारकी तिर्यञ्च आदि जीव भी शारीरिक-मानसिक परितापों से मुक्त हो गये। छप्पन दिक् कुमारियों एवं देव-देवेन्द्रों ने मिलकर अति उल्लास तथा आनन्द से भगवान् का जन्म महोत्सव मनाया। इस अवसर्पिणी काल में सर्वप्रथम जन्मोत्सव भगवान् ऋषभदेव का ही मनाया गया था। जन्मोत्सव मनाने की परम्परा यहीं से प्रारम्भ हुई।

नामकरण :

जब नामकरण का समय आया तो बड़ी संख्या में यौगलिक एकत्र हुए। बालक का नाम रखने पर विचार-विमर्श हुआ। उपस्थित यौगलिकों को नाभिराय ने बताया कि जब बालक माता के गर्भ में आया था, तब माता ने चौदह स्वप्न देखे थे जिनमें प्रथम स्वप्न में वृषभ देखा था और बालक के उरु प्रदेश में भी वृषभ का चिह्न है। इतना बताने के पश्चात् उन्होंने कहा "इस दृष्टि से बालक का नाम वृषभ रखना उचित प्रतीत होता है।" उपस्थित युगलों ने नाभिराय के प्रस्ताव का समर्थन किया और इस प्रकार बालक का नाम वृषभ ऋषभ रखा गया। इस प्रकार बालक को सभी ऋषभ के नाम से पुकारने लगे। पुत्री का नाम सुमंगला रखा गया।

वंश :

यहाँ सर्वप्रथम यह उल्लेख करना उचित प्रतीत होता है कि ऋषभदेव के समय तक जाति/वंश नहीं था। सर्वप्रथम इसी समय से वंश उत्पत्ति मानी जाती है। जिस समय ऋषभदेव एक वर्ष से कुछ कम आयु के थे, उस समय वे अपने पिता की गोद में बाल क्रीड़ा कर रहे थे। इसी समय इन्द्र इक्षु लेकर आया। ऋषभदेव ने अपना हाथ बढ़ाकर इक्षु लिया और चूसने का प्रयास करने लगे। इक्षु के प्रति ऋषभदेव का आकर्षण देखकर इन्द्र ने इस वंश को इक्ष्वाकुवंश के नाम से अभिहित किया। विज्ञ आचार्यों ने इसकी उत्पत्ति करते हुए कहा है—इक्षु + आकु (भक्षणार्थे) इक्ष्वाकु। कालान्तर में किसी घटना को मुख्य मानकर अलग-अलग समुदायों के अलग-अलग वंश बनने लगे। भगवान् के गोत्र का नाम काश्यप/काश्यप रखा गया।

अकाल मृत्यु एवं विवाह :

जिस समय बालक ऋषभ अपनी बाल क्रीड़ाओं से अपने माता-पिता परिजनों एवं पुरजनों को, देव-देवियों को अनिर्वचनीय, अलौकिक आनन्द प्रदान कर रहे थे, उन्हीं दिनों वन में एक यौगलिक युगल को ताल वृक्ष के नीचे छोड़ कर उसके माता-पिता कहीं अन्यत्र चले गए थे। युगल उस वृक्ष के नीचे क्रीड़ारत था। अचानक एक परिपक्व ताल फल बालक के मर्मस्थल पर गिरा, जिसके परिणाम-स्वरूप बालक की मृत्यु हो गई। इस अवसर्पिणी काल की यह प्रथम अकाल-मृत्यु थी। बालक की सहसा अकाल मृत्यु से बालिका एकाकी रह गई। वह वन में इधर-उधर भटकने लगी। उसे एकाकी भटकते देख यौगलिक उसे लेकर कुलकर नाभिराय के समीप पहुंचे और समग्र वृत्तांत कह सुनाया। कुलकर नाभिराय ने आश्चर्य प्रकट कर रहे यौगलिकों को समझाते हुए कहा कि आश्चर्य की कोई बात नहीं है। समय में परिवर्तन हो रहा है। यह घटना एक नये युग के सूत्रपात की सूचक है। उन्होंने उस बालिका को अपने भवन में रख लिया। यौगलिकों को उन्होंने बता दिया कि बड़ी होने पर यह बालिका वृषभ की भार्या होगी।

बालिका अत्यन्त रूपवती थी। उसका नाम सुनन्दा रखा गया। सुनन्दा, नाभिराय के यहां ऋषभ और सुमंगला के साथ क्रीड़ा करने लगी। समय के प्रवाह के साथ तीनों ने यौवन की देहली पर अपने पैर रखे। यौगलिक युवा होने पर पति-पत्नी के रूप में रहते थे। वर्तमान युग की भांति भाई-बहिन का विवाह पापकर्म मान कर वर्जित नहीं था। जब ऋषभकुमार, सुमंगला और सुनन्दा युवा हो गए तो उनको विवाह बंधन में बांधने का निश्चय किया गया। किंतु

समस्या यह थी कि विवाह कार्य किस प्रकार सम्पन्न किया जावे? कैसे क्या किया जावे? विवाह विधि से उस समय के नर-नारी अनभिज्ञ थे। इसलिये विवाह सम्पन्न करवाने का कार्य इन्द्र और इन्द्राणियों ने स्वयं संभाला। इन्होंने वर और वधु-पक्ष के कार्यों को पृथक्-पृथक् संभालकर जनता को विवाह सम्बन्धी कार्य से परिचित करवाया। कारण यह था कि उस समय विवाह जैसी कोई परम्परा नहीं थी। ऋषभकुमार का सुमंगला एवं सुनंदा के साथ विवाह कर इस परम्परा का सूत्रपात किया गया। इस विवाह को देखने/समझने के लिये यौगलिक नर-नारियों के समूह के समूह नाभिराय के भवन की ओर उमड़ पड़े थे। अनेक दिनों तक प्रथम विवाह के उपलक्ष्य में आनन्दोत्सव मनाया गया।

विवाह के पश्चात् ऋषभकुमार सुमंगला और सुनन्दा के साथ इन्द्रिय-सुखों का उपभोग करने लगे।

सन्तति :

यौगलिक काल में सामान्यतः सन्तान के लिये नियम अटल था। प्रत्येक युगल के जीवन काल में केवल एक बार ही सन्तानोत्पत्ति होती थी, जो युगुल रूप मे एक पुत्र और एक पुत्री होती थी। ऋषभदेव के समय यह नियम भंग हुआ। ऋषभदेव की पत्नी सुनंदा से बाहुबली और सुन्दरी का युगल रूप में जन्म हुआ। सुमंगला की कुक्षि से पचास युगल उत्पन्न हुए। प्रथम युगल के रूप में भरत एवं ब्राह्मी का जन्म हुआ। शेष उनपचास युगलों मे केवल पुत्र ही पुत्र उत्पन्न हुए। इस प्रकार ऋषभदेव की संतति में एक सौ पुत्र और दो पुत्रियां हुईं। मतांतर से इस संख्या में, विशेषकर पुत्रों की संख्या में अन्तर पाया जाता है। दिगम्बर परम्परा एक सौ एक पुत्र होने की बात करती है।

कालांतर मे ऋषभदेव ने अपने पुत्र-पुत्रियों को उचित शिक्षण/प्रशिक्षण प्रदान किया। सबसे पहले उन्होंने अपनी पुत्री ब्राह्मी को दाहिने हाथ से अठारह प्रकार की लिपियों का ज्ञान प्रदान किया। सुन्दरी को बांयें हाथ से गणित के ज्ञान का शिक्षण दिया।

तत्पश्चात् ज्येष्ठ पुत्र भरत को पुरुषोचित बहत्तर कलाओं का एवं बाहुबली को प्राणिरक्षण का ज्ञान कराया। ऋषभदेव ने अपनी दोनों पुत्रियों को स्त्रियोचित चौसठ कलाओं का भी ज्ञान प्रदान किया।

विवाह प्रथा :

यौगलिक काल में भाई और बहन का विवाह एक सामान्य रिवाज था। वर्तमान युग की भांति उसे अनीतिपरक, हेय एवं निन्दनीय नहीं माना जाता था

कहने का तात्पर्य यह है कि यह एक सामान्य परम्परा थी। ऋषभदेव ने सुनन्दा के साथ विवाह करके इस परम्परा को तोड़ने की शुरूआत की थी। विवाह परम्परा को और अधिक सुदृढता प्रदान करने के उद्देश्य से उन्होंने भरत और बाहुबली के युवा होते ही भरत सहजात ब्राह्मी का विवाह बाहुबली से और बाहुबली सहजात सुन्दरी का विवाह भरत के साथ निश्चय किया। कालांतर में इन विवाहों का अनुकरण जनता ने भी किया। ब्राह्मी और सुन्दरी ने विवाह नहीं किया था। इस प्रकार भिन्न गोत्र में विवाह करने का प्रचलन प्रारम्भ हुआ और एक नवीन परम्परा का उद्भव हुआ।

प्रथम राजा :

नाभिराय अंतिम कुलकर माने जाते हैं। कुलकर व्यवस्था ऋषभदेव के समय तक चलती रही और फिर ऋषभदेव ही प्रथम राजा बने। कुलकरों के समय हकार, मकार और धिक्कार दण्डनीति का प्रचलन था। जैन साहित्य का अनुशीलन करने पर ज्ञात होता है कि ऋषभदेव की गणना पन्द्रहवें कुलकर के रूप में की गई है। साथ ही कुछ ग्रंथों में उनका उल्लेख प्रथम राजा के रूप में किया गया है। यह कुछ विवादास्पद लगता है। इसका समाधान इस प्रकार किया जा सकता है—नाभिराय चौदहवें कुलकर थे। जनता राजा पद से अनभिज्ञ थी। जब नाभिराय के पश्चात् ऋषभदेव ने व्यवस्था संभाली तो एक नये युग का सूत्रपात हुआ किंतु जनता उन्हें फिर भी कुलकर ही मानती रही। सम्भवतः उसी भ्रांति में उन्हें कुलकर कहा गया।

कुलकर नाभिराय के समय ही प्रचलित दण्ड व्यवस्था प्रभावहीन होती जा रही थी। अभाव बढ़ता ही जा रहा था। नाभिराय के पास यौगलिकों की शिकायतें निरन्तर आ रही थीं। ऐसी स्थिति में नाभिराय कोई समाधान निकाल पाने में अपने आपको असमर्थ पा रहे थे। वे अपने उत्तरदायित्व से मुक्त होना चाहते थे किंतु इसका भी कोई मार्ग दिखाई नहीं दे रहा था। कल्पवृक्ष जिनसे सभी प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति होती थी, वे भी क्षीण होते जा रहे थे। जहाँ कहीं कल्पवृक्ष होते वहां संघर्ष की स्थिति निर्मित हो जाया करती थी। नाभिराय स्वयं परेशान थे। वे स्वयं भी परिवर्तन चाहते थे। परिवर्तन कैसे हो? कैसा हो? इसका उत्तर उनके पास नहीं था।

ऋषभदेव समस्त बातों से अवगत थे। चर्चा के दौरान अभावों की बात भी हुई। इस समय कुछ युगलों ने उनसे पूछा कि समस्याओं का समाधान होगा भी या यों ही आपस में लड़-झगड़ कर समय व्यतीत होता

रहेगा? ऋषभदेव ने कहा—समय परिवर्तनशील है। इसके परिवर्तन के साथ ही व्यवस्था में भी परिवर्तन होता है। मनुष्यों को भी समय के प्रवाह के साथ अपनी आदतों में परिवर्तन करना पड़ता है। ऐसा होने पर समस्या का समाधान निकल आता है। जब कुलकर व्यवस्था से काम नहीं चल रहा है तो इसे बदलना चाहिये। कुलकर के स्थान पर राजा होना चाहिये। राजा सब कुछ व्यवस्थित कर देगा।

ऋषभदेव को बताया गया कि यह दूसरी व्यवस्था क्या है? कैसी है? इससे तो युगल अनभिज्ञ हैं। इस पर ऋषभदेव ने राजा और उसका दायित्व तथा उसके अन्तर्गत चलने वाली व्यवस्था स्पष्ट रूप से समझाई। तब युगलों ने कहा कि उनमें से तो किसी में भी राजा जैसी क्षमता नहीं है। हां, आप स्वयं राजा का पद संभालने के सर्वथा योग्य हैं। आप ही यह पद संभाल लें। युगलों के प्रस्ताव को सुनकर ऋषभदेव ने कहा—"आप सब जाकर ऐसा निवेदन कुलकर नाभिराय के समक्ष करें।"

युगल नाभिराय की सेवा में पहुँचे और इससे ऋषभदेव को राजा बनाने के लिए निवेदन करते हुए समस्त उत्तरदायित्व इन्हें सौंपने का आग्रह किया। नाभिराय तो यह चाहते ही थे। उन्होंने अपनी स्वीकृति प्रदान कर दी। साथ ही उन्होंने यह भी कह दिया कि अब भविष्य में तुम्हें जो भी कहना हो, वह ऋषभदेव को ही कहा करो। तत्पश्चात् नाभिराय के समय में ही ऋषभदेव का राज्याभिषेक सम्पन्न हुआ और ऋषभदेव प्रथम राजा बने। इन्द्र ने अपने अवधि-ज्ञान से राज्याभिषेक का दृश्य देखा तो वह अत्यन्त प्रसन्न हुआ। वह मृत्यु लोक में आया उसने यहाँ के लोगों के विनय की भूरी-भूरी प्रशंसा की और उस स्थान का नाम विनीता रखा। कालांतर में यहीं विनीता नामक नगरी का निर्माण हुआ। इस क्षेत्र का नाम विनीत भूमि और इक्ष्वाकु भूमि भी प्रसिद्ध है।

राज्य व्यवस्था :

राजा बनने के पश्चात् राजा ऋषभदेव ने अपने राज्य को संगठित किया, मंत्रि-मंडल का गठन किया। आरक्षक दल की स्थापना की। अपने परामर्शदाताओं की नियुक्ति की तथा अन्य राज-कर्मचारियों की भी नियुक्ति की। अपने राज्य के संरक्षण के लिए राजा ऋषभदेव ने चतुर्विध सेना (गज, अश्व, रथ, व पादातिक) का संगठन किया। अपराधी की खोज तथा अपराध निरोध के लिए साम, दाम, दण्ड और भेद नीति का प्रचलन किया। इस प्रकार राजा ऋषभदेव ने राज्य व्यवस्था का सूत्रपात किया।

दण्ड व्यवस्था :

राजा ऋषभदेव इस तथ्य से भली-भाँति परिचित थे कि शासन की सुव्यवस्था के लिए दण्ड परम आवश्यक है। अपराधी को उसके अपराध के अनुरूप दण्ड मिलना ही चाहिए। यदि ऐसा नहीं होता है तो अपराधवृत्ति और अधिक बढ़ती जावेगी और फिर एक समय ऐसा भी आ सकता है जब उस पर नियंत्रण पाना मुश्किल हो जायेगा। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए राजा ऋषभदेव ने अपने समय में चार प्रकार की दण्ड व्यवस्था का प्रावधान किया। यथा—

(१) **परिभाष**—कुछ समय के लिए अपराधी व्यक्ति को आक्रोशपूर्ण शब्दों में नजरबन्द रहने का दण्ड देना।

(२) **मण्डप बन्ध**—सीमित क्षेत्र में रहने का दण्ड देना।

(३) **चरक**—बन्दीगृह में बन्द करने का दण्ड देना।

(४) **छविच्छेद**—करादि अंगोपांगों से छेदन का दण्ड देना।

इन दण्ड नीतियों के प्रचलन के समय के विषय में विद्वानों में मतभेद हैं। कुछ विद्वानों का मानना है कि इनमें से तो ऋषभदेव के समय तथा दो भरत के समय प्रारम्भ हुईं। उस समय अपराध के अनुसार तीन प्रकार के दण्ड प्रचलित थे—

(१) अर्धहरण दण्ड, (२) शारीरिक क्लेश रूप दण्ड और (३) प्राणहरण रूप दण्ड।

कौनसी व्यवस्था किसके समय प्रारम्भ हुई, यह एक भिन्न बात है किन्तु इतना निश्चित है कि राजा ऋषभदेव के समय से व्यवस्था स्थापित हो गई और समय के प्रवाह के साथ उसका विकास होता गया।

असि-मसि और कृषि :

ऋषभदेव के समय प्रचलित आजीविका के प्रमुख छः साधनों का उल्लेख जैन साहित्य में पाया जाता है। यथा—(१) असि अर्थात् सैनिक वृति, (२) मसि अर्थात् लिपि विद्या, (३) कृषि अर्थात् कृषि कार्य, (४) विद्या अर्थात् अध्यापन या शास्त्रोपदेश का कार्य, (५) वाणिज्य अर्थात् व्यापार व्यवसाय और, (६) शिल्प अर्थात् कला कौशल। इनमें से प्रथम तीन पर स्वल्प प्रकाश डालना आवश्यक प्रतीत होता है।

असि :

सुरक्षा की दृष्टि से एक ऐसे वर्ग की आवश्यकता थी जो अस्त्र-शस्त्र संचालन में प्रवीण हो। इसलिये राजा ऋषभदेव ने लोगों को अस्त्र-शस्त्र संचालन

का प्रशिक्षण दिया। कौनसे शस्त्र का कब और किस प्रकार प्रयोग किया जावे? इस सम्बन्ध में भली-भांति प्रशिक्षण प्रदान किया गया। अस्त्र-शस्त्र संचालन में दक्ष लोगों का अलग ही वर्ग बना दिया गया। इस वर्ग के लोगों को अन्य किसी प्रकार के कार्य करने की आवश्यकता नहीं थी। जब भी सुरक्षा कारणों से इस वर्ग की आवश्यकता होती, ये सदैव तत्पर रहते। इस वर्ग को क्षत्रिय की संज्ञा दी गई।

मसि :

मसि कर्म अर्थात् लिखा-पढ़ी की विद्या। एक दूसरे से सम्पर्क के लिए, व्यापार-व्यवसाय में हिस्सा रखने के लिए लिखना-पढ़ना जानना आवश्यक था। इसके अभाव में न तो सम्पर्क ही हो सकता है और न ही हिसाब आदि ही व्यवस्थित रखा जा सकता है। चूंकि उन दिनों मुद्रा का आविष्कार नहीं हुआ था और समस्त व्यापार या लेन-देन वस्तु विनिमय के माध्यम से होता था। ऐसी स्थिति में मसि कर्म की आवश्यकता अत्यधिक थी। राजा ऋषभदेव ने कुछ लोगों को मसि कर्म में प्रशिक्षित किया। इस वर्ग ने लोगों के हिसाब रखने आदि की समस्याओं का समाधान किया। ऋषभदेव ने इस वर्ग के लोगों के लिए पारिश्रमिक की भी व्यवस्था कर दी। विनिमय प्रक्रिया को व्यापार तथा इस कार्य को करने वाले वर्ग को व्यापारी वैश्य कहा गया।

कृषि :

कल्पवृक्ष नष्ट हो चुके थे। खाद्य समस्या का संकट था। चारों ओर त्राहि-त्राहि मची हुई थी। राजा ऋषभदेव के लिये इस समस्या का समाधान करना आवश्यक था। कारण कि जीवन की शेष समस्यायें भी इसी समस्या से जुड़ी रहती हैं। लोगों को जब भरपेट भोजन मिलने लगे तो वे अनुशासन में रहकर कार्य कर सकते हैं। समय के प्रवाह के साथ ही परिवर्तन आवश्यक है। इस नीति के अनुसार राजा ऋषभदेव ने अपनी प्रजा से कहा कि जब वृक्षों ने फल देना बन्द कर दिया है तो हमें भी बदलना होगा। यदि हम परिवर्तन नहीं लायेंगे तो हमें भरपेट भोजन मिलना मुश्किल हो जायेगा, जैसा कि अभी हो रहा है। इसके लिये यह आवश्यक है कि अब हमें परिश्रम करना होगा। बिना परिश्रम के कुछ होने वाला नहीं है। आपने राजा ऋषभदेव के कथन से लोगों में उत्साह का संचार हुआ और लोग परिश्रम करने के लिए तैयार हो गए। राजा ऋषभदेव ने इन लोगों को खेती करना सिखाया। खेत तैयार कर अनाज बोया गया, परिणाम सुखद रहा। कृषि कर्म को भली-भांति सिखा दिया

गया। उसमें होने वाली संभावित क्षति को रोकने के उपाय भी बता दिये गए। इस प्रकार कृषि कर्म से अनाज उत्पन्न होने लगा और लोगों को भरपेट भोजन मिलने लगा।

नवीन युग का सूत्रपात :

एक दिन कुछ व्यक्ति ऋषभदेव के पास गए और कहने लगे की वन में लाल रंग के रत्न उत्पन्न हुए हैं। उनसे हमारे हाथों में फफोले पड़ गए हैं। हम वे रत्न आपके पास लाने वाले थे किंतु हाथों की दुर्दशा के कारण नहीं ला सके। कृपा कर उसका रहस्य समझाइये। ऋषभदेव तत्काल जान गए कि ये लाल रत्न अग्नि के अंगारे हैं। उन्होंने लोगों को समझाते हुए कहा—"घबराने की कोई बात नहीं है। तुम्हारे सौभाग्य से अग्नि उत्पन्न हो गई है, आने वाले समय में इसका महत्व जान जाओगे। इससे लाभ ही लाभ है।"

खेती से अनाज पर्याप्त मात्रा में होने लगा। अभी लोग कच्चा अनाज खाकर अपना उदरपोषण कर रहे थे। प्रारम्भ में तो उन्हें कोई शिकायत नहीं हुई किंतु धीरे-धीरे वे पेट का भारीपन अनुभव करने लगे। कुछ समय बाद उन्हें अपच की शिकायत रहने लगी। लोग पुनः ऋषभदेव के पास गए और अपनी समस्या से उन्हें अवगत कराया। ऋषभदेव ने बताया कि उनकी समस्या कच्चा अन्न खाने से उत्पन्न हुई है। अतः वे अग्नि में अन्न को पका कर खायें। लोग अन्न पकाने की कला से भी अनभिज्ञ थे। उन्होंने अन्न को अग्नि में डाल दिया, अन्न जलकर भस्म हो गया। वे पुनः ऋषभदेव के पास गए। ऋषभदेव ने उन्हें मिट्टी के पात्र बनाकर अन्न पकाने के लिए कहा—मिट्टी के कच्चे पात्रों में अन्न पकाना असम्भव हो गया तब ऋषभदेव ने मिट्टी के पात्रों को अग्नि में पकाकर उन्हें पक्का बनाना सिखाया और फिर उन पात्रों में अन्न पकाना सिखाया। इस प्रकार ऋषभदेव ने लोगों को पात्र कला का प्रशिक्षण दिया। तब लोग पका हुआ भोजन खाने लगे। इससे एक नवीन युग का सूत्रपात हुआ।

सेवा व्यवस्था :

असि-मसि-कृषि की व्यवस्था से अधिकांश लोग कार्यरत रहने लगे थे। फिर भी कुछ लोग ऐसे थे जो कार्य करने से वंचित रह गए थे। ऐसे लोग बौद्धिक एवं शारीरिक दृष्टि से सक्षम नहीं थे। ऐसे लोगों को जैसा निर्देश दिया जाता वैसे ये कर दिया करते थे। ऋषभदेव ने ऐसे लोगों के लिए सेवा करने का कार्य निश्चित किया। साफ-सफाई करना। अपना कार्य किया और

पारिश्रमिक प्राप्त किया। इस प्रकार समाज में सामर्थ्यानुसार श्रम विभाजन भी हो गया और कोई भी व्यक्ति बिना कार्य के न रहा। ऋषभदेव के समय किसी प्रकार की ऊंच-नीच की भावना नहीं थी। कार्य भले ही अलग-अलग करते किंतु समाज समता की आधारशिला पर टिका हुआ था।

वर्ण व्यवस्था :

कार्य की अवस्था पर आधारित समाज वर्गों में विभक्त हो गया था। असि कर्म करने वाले क्षत्रिय, मसि कर्म, कृषि कर्म करने वाले वैश्य तथा सेवा कार्य करने वाले शूद्र कहलाते हैं। ब्राह्मण वर्ग की उत्पत्ति सम्राट भरत के समय हुई, धर्म जागृति के लिए सम्राट भरत ने कुछ बुद्धिजीवियों का चयन किया जो वक्तृत्व कला में निपुण थे। इनका कार्य धर्म विषयक प्रेरणा प्रदान करना और प्रवचन देना था। इस वर्ग को आजीविका की चिंता से मुक्त कर दिया। इनके भोजन की व्यवस्था राजमहल अथवा गाँवों के नागरिकों द्वारा किया जाना निश्चित किया गया। इस प्रकार समाज ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चार वर्णों में विभक्त था किंतु किसी प्रकार का भेदभाव या छूआछूत नहीं थी और न ही इनमें उच्चता अथवा हीनता की भावना थी। ब्राह्मण की पहचान के लिए उनके वक्ष पर कांगणी रत्न से तीन रेखाएं खींच दी जाती थीं।

संस्कृति के आद्य निर्माता :

उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन से हम सहज ही कह सकते हैं कि राजा ऋषभदेव ने एक नवीन व्यवस्था का सूत्रपात किया। एक नवीन संस्कृति को जन्म दिया। नवीन परम्पराओं का प्रारम्भ किया। वर्तमान समाज उनके द्वारा स्थापित मानदण्डों पर आधारित है। यह बात भिन्न है कि काल के प्रवाह से उसमें परिवर्तन आया और अनेक विषमताएं उत्पन्न हो गई। मूलरूप से देखा जावे तो समस्त व्यवस्थाएं वैसी ही हैं जैसी राजा ऋषभदेव ने प्रारम्भ की थी, करवाई थी। इस दृष्टि से हम उन्हें संस्कृति का आद्य निर्माता कह सकते हैं।

साधक जीवन :

राजा ऋषभदेव सांसारिक सुख-वैभव में जीवन निर्वाह करते हुए भी वीतरागी बने रहे। अपने राजत्वकाल में उन्होंने जीवन मूल्यों की स्थापना की। इसके लिये उन्होंने अथक परिश्रम भी किया। सामाजिक उत्तरदायित्व के निर्वहन के पश्चात् उन्होंने धर्मनीति का प्रवर्तन करने का निश्चय किया। भरत, बाहुबली आदि उनके पुत्र योग्य वय को प्राप्त हो चुके थे। उन्होंने भरत को अयोध्या का सिंहासन सौंपा, बाहुबली को तक्षशिला का राज्य दिया तथा इसी प्रकार

शेष राजकुमारों को भी उनकी योग्यतानुसार राज्य सौंप दिया। तत्पश्चात् उन्होंने संसार त्यागने का निश्चय कर लिया। उनकी इस त्याग भावना का व्यापक प्रभाव हुआ। अनेक नरेशों सहित लगभग चार हजार अन्य भव्य पुरुषों ने भी उनके साथ दीक्षाव्रत अंगीकार करना स्वीकार किया।

महाभिनिष्क्रमण के पूर्व उन्होंने अपने सभी पुत्रों को बुलाकर अपनी भावना से अवगत कराया। भरतादि के न चाहने पर भी उन्हें स्वीकृति देनी पड़ी। चैत्र कृष्णा अष्टमी का दिन जैन इतिहास ही नहीं, भारतीय इतिहास का अविस्मरणीय दिन बन गया। इस दिन समस्त वैभव को तृणवत् त्याग कर, भोग-विलास को तिलांजलि देकर, पाप-प्रवृत्तियों का परित्याग कर भव्य भावना के साथ ऋषभदेव विनीता नगरी से निकल कर सिद्धार्थ उद्यान में, अशोक वृक्ष के नीचे, उत्तराषाढ़ा नक्षत्र में चतुर्थ प्रहर के समय, षष्ठ भक्त के तप से युक्त होकर सर्वप्रथम अणगार बने। उन्होंने सिर के बालों का चतुर्मुष्टिक लोच किया। भगवान् ऋषभदेव के साथ उग्रवंश, भोग वंश, राजन्यवंश और क्षत्रिय वंश के चार हजार भव्य जीवों ने संयम व्रत अंगीकार किया। भवान् ऋषभदेव ने अयोध्या से विहार कर दिया। उनके साथ दीक्षित चार हजार साधुओं ने भी उनका अनुसरण किया, किंतु वे भगवान् ऋषभदेव के छद्मस्थ अवस्था के कारण निराश हो गए। भगवान् उन श्रमणों को किसी प्रकार का आदेश, निर्देश या संकेत नहीं करते थे। वे अखण्ड मौनवृत्ति धारण कर भूमण्डल पर अप्रतिबद्ध होकर विचरण करते। भगवान् के न बोलने के कारण उन साधुओं ने विचार किया कि जीवनभर इसी प्रकार निराहार और मौन रहना पड़ेगा। इस सोच से वे घबरा उठे और अनेक साधुत्व का त्याग कर इधर-उधर चल पड़े। इस प्रकार वे अज्ञानवश भ्रांतियों के शिकार हो गए।

साधुचर्या :

भगवान् ऋषभदेव ने लोगों को जीवन जीने की कला का प्रशिक्षण दे दिया था। लोग सभी प्रकार से सुखी थे। इतना होने पर भी लोग साधु-चर्या से अनभिज्ञ थे। इसका प्रमुख कारण यह था कि भगवान् ऋषभदेव के पूर्व किसी ने श्रमण वृत्ति को अपनाया भी नहीं था। जब भगवान् ऋषभदेव ने दीक्षा व्रत अंगीकार किया तो लोगों ने सोचा कि ये राज्य से अलग रहकर आत्म-साधना करेंगे। अन्न की भिक्षा देना और लेना उनकी कल्पना से परे था।

भगवान् ऋषभदेव भिक्षा के लिए ग्राम-नगरों में भ्रमण करते, किंतु उस समय भिक्षा-विधि से सर्वथा अज्ञानी लोग समझ नहीं पाये कि इन्हें क्या चाहिये। अज्ञानी लोग उनकी सेवा में नाना प्रकार के वस्त्राभूषण, गज, रथ, घोड़े, सिंहासन यहां तक कि अपनी रूपवती कन्याओं को भगवान् के समक्ष प्रस्तुत करते और भगवान् से ग्रहण करने की प्रार्थना करते। भगवान् उनमें से किसी को भी ग्रहण नहीं करते और मौन लौट जाते। तब लोगों को अपार वेदना होती। वे समझ नहीं पाते कि क्या किया जाये? क्या दिया जाये? कैसे दिया जाये? लोग भगवान् से इच्छित वस्तु के लिए पूछते भी किंतु भगवान् सर्वथा मौन ही रहते। इस प्रकार काफी समय बिना अन्न और पानी के बीत गया। कहते हैं कि शुद्ध आहार के अभाव में बिना कुछ खाये-पिये बारह माह व्यतीत हो गये। भगवान् भिक्षा के लिए समय गवेषणा करते, शेष समय में ध्यानस्थ रहते। ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए भगवान् का पदार्पण हस्तिनापुर हुआ।

इस समय हस्तिनापुर (गजपुर) में बाहुबली का राज था। बाहुबली के पौत्र और सोमप्रभ राजा के पुत्र श्रेयांसकुमार ने अर्द्धनिद्रित अवस्था में स्वप्न देखा कि सुमेरु पर्वत श्यामवर्ण का हो गया है और उसने उसे अमृत-कलश से अभिसिंचन कर पुनः चमकाया। उसी रात्रि में नगर श्रेष्ठि सुबुद्धि ने भी स्वप्न देखा कि सूर्य की हजार किरणें स्व-स्थान से विचलित हो रही थी कि श्रेयांस ने उन किरणों को यथास्थान संस्थापित किया। राजा सोमप्रभ ने भी स्वप्न देखा कि एक महान पुरुष शत्रुओं से युद्धरत है और श्रेयांस कुमार ने उसे सहायता प्रदान की जिससे शत्रु की शक्ति क्षीण हो गई।

राजा ने प्रातःकाल स्वप्नों का फल अपने पुरोहित से पूछा। पुरोहित ने बताया कि उन्नत सुमेरु पर्वत पर जिनका जन्माभिषेक हुआ वह देव आज वहाँ आवेगा। अन्य स्वप्न भी शुभ बताये गए।

मध्याह्न काल का समय था। श्रेयांसकुमार अपने आवास में बैठा स्वप्न पर चिंतन-मनन कर रहा था। ऐसा करते समय वह प्रसन्नता का अनुभव कर रहा था। उसका रोम-रोम पुलकित हो रहा था। उसे ऐसा कुछ प्रतीत हो रहा था कि उसके हाथों कोई महान कार्य होने वाला है। जब वह ऐसा चिंतन कर रहा था, तब उसे भगवान् ऋषभदेव आते हुए दिखाई दिये। भगवान् के दर्शन होते ही वह भक्ति-भावना से ओत-प्रोत हो गया। उसे उसी समय जाति स्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ। उसे पूर्वजन्म

की स्मृति हो आई। भगवान् के साथ अपने पूर्वजन्म के सम्बन्धों को जाना और इसी समय उसने अनुभव किया कि भगवान् एक वर्ष से निराहार हैं। इसी स्थिति में भगवान् एक स्थान से दूसरे स्थान पर भ्रमण कर रहे हैं। अभी तक भगवान् को भिक्षा नहीं मिली। वह अपने आवास से नीचे उतरा और भगवान् को वन्दन किया और आहार के लिए विनती की। भगवान् ने राजमहल में प्रवेश किया। श्रेयांसकुमार अन्दर गए और शुद्ध आहार की गवेषणा की तो वहाँ ताजा इक्षुरस के सिवाय कुछ नहीं था। श्रेयांस कुमार ने इक्षुरस स्वीकार करने की विनती की। करपात्री भगवान् ने एक वर्ष के बाद इक्षुरस का पान किया। वर्षीतप का पारणा सम्पन्न हुआ। 'अहोदानं अहोदानं' की घोषणा से गगनमण्डल गूंज उठा। पंचविध सुवृष्टि हुई। सर्वत्र वातावरण स्वच्छ, रम्य और सुखद प्रतीत होने लगा।

जिस दिन भगवान् ने वर्षीतप का पारणा इक्षुरस से किया, वह दिन वैशाख शुक्ला तृतीया का दिन था। इक्षुरस का दान देने से वह तृतीया इक्षु तृतीया या अक्षय तृतीया पर्व के रूप में विख्यात हुई। दान से वह तिथि भी अक्षय बन गई। इस अवसर्पिणी काल में सर्वप्रथम दान श्रेयांस कुमार ने दिया।

केवलज्ञान :

समस्त ममत्व का त्यागकर भगवान् ऋषभदेव एक वर्ष तक कठोर साधना में आत्म-चिंतन में लीन रहे। किसी समय भगवान् पुरिमताल नगर पधारे। नगर के बाहर शकटमुख उद्यान में भगवान् पधारे और यहीं फाल्गुन कृष्णा एकादशी के दिन अष्टम तप की साधना करते हुए ध्यानस्थ थे। पूर्वाह्न का समय था। आत्म-मंथन चरम सीमा पर पहुँचा। घनघाती कर्मों का आवरण हटा और उत्तराषाढ़ा नक्षत्र के योग में भगवान् को केवलज्ञान और केवलदर्शन हुआ। भगवान् सर्वज्ञ हो गये। देव-देवेन्द्रों ने केवलज्ञान महोत्सव मनाया। भगवान् अरिहन्त के बारह गुणों से युक्त हुए।

जिस समय भगवान् को केवलज्ञान हुआ ठीक उसी समय सम्राट भरत को चक्रवर्ती बनाने वाले चक्ररत्न और पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई। जब ये तीनों शुभ समाचार एक साथ भरत को मिले तो वे यह निश्चय नहीं कर पाये कि कौनसा उत्सव पहले मनाया जावे। विचार किया—चक्र प्राप्ति अर्थ का, पुत्र प्राप्ति काम का और केवलज्ञान प्राप्ति धर्म का प्रतीक है। इनमें धर्म श्रेष्ठ है। इसलिये केवलज्ञान का उत्सव सर्वप्रथम मनाया जाना चाहिए। यह सम्राट भरत का धर्मविवेक था।

माता मरुदेवी की चिंता :

जब से भगवान् ऋषभदेव ने संसार का त्याग कर मुनि जीवन अपनाया था और साधनारत हुए थे तब से ही माता मरुदेवी अपने लाडले पुत्र के लिए चिंतित रहती थी। अनेक बार माता मरुदेवी ने अपने पौत्र को अपने प्रिय पुत्र के समाचारों के लिए कहा भी। न केवल कहा वरन् कई बार प्रताड़ित भी किया। माता मरुदेवी इसलिये दुःखी थी कि उनका पुत्र राजसी वैभव का त्यागकर वन-वन भटक रहा है, पता नहीं उनके लाड़ले पुत्र को भोजन मिलता भी है अथवा नहीं। कहां सोता होगा, कैसे रहता होगा? कुछ ऐसी ही चिंता कर-कर के विलाप करती रहती। भरत से कहती कि उसे अपने पिता की तनिक भी चिंता नहीं है। वह राज्य पाकर उसमें आसक्त हो गया है। माता मरुदेवी अपने पुत्र के आगमन की भी प्रतीक्षा करती। नहीं आने पर व्यथित हो जाती।

माता मरुदेवी इसी प्रकार सोच-सोच कर व्यथित हो रही थी कि भरत ने आकर सादर अभिवादन किया। भरत को अपने सम्मुख देखकर माता मरुदेवी ने उपालम्भ देते हुए अपने पुत्र का कुशल मंगल पूछा। भरत ने बताया कि वे उसके सम्बन्ध में जैसा सोचती है, वैसा नहीं है। वह समय-समय पर अपने पिता की कुशल क्षेम पुछवाता रहता है। अभी भी चारों दिशाओं मे सुभट गए हुए है। उनके आते ही समाचार दे दिया जायेगा। इतना कहकर भरत वहां से अपने सभा भवन में गए। सभा भवन में पहुंचते ही वहां यमक और शमक नामक दूतों ने प्रवेश किया और अभिवादन कर बताया कि भगवान् को हजार वर्ष की निरन्तर साधना के पश्चात् केवलज्ञान की उपलब्धि हुई है। इस समय भगवान् पुरिमताल के उद्यान में विराजमान हैं। शमक ने आयुधशाला मे चक्ररत्न के उत्पन्न होने की सूचना दी। तीसरी सूचना उनके यहाँ पुत्ररत्न के उत्पन्न होने की मिली।

सम्राट भरत सपरिवार भगवान् ऋषभदेव के दर्शन करने के लिए चल पड़े। माता मरुदेवी भी उनके साथ थी। माता मरुदेवी तो वर्षों से अपने पुत्र के दर्शनों के लिए छटपटा रही थी। वह तो पुत्र वियोग में व्यथित थी। पुत्र से मिलन की आकांक्षा में उसकी आंखों से अश्रु टपक रहे थे। सम्राट भरत ने उसके सम्मुख तीर्थंकरों की दिव्य विभूति का विवरण प्रस्तुत किया किंतु उसे विश्वास नहीं हुआ। धीरे-धीरे वे समवसरण के निकट पहुँची। वहाँ की भव्यता को देखकर वे आश्चर्य चकित रह गई। वे शोक में पड़ गईं। मेरे लाल के पास इतनी दिव्य विभूति? इतनी अपार भीड़ में तो यह कल्पना भी नहीं कर

सकी थी। मेरा लाल तो मेरी ओर देख भी नहीं रहा है। मेरा सारा सोचा व्यर्थ रहा। यह तो एकदम निःस्पृह है। क्या इसके मन में माता के प्रति कोई स्नेहभाव/ममता आदि नहीं है। ऐसे विचार करते-करते माता मरुदेवी के चिन्तन का प्रवाह परिवर्तित हो गया। वे आर्तध्यान से शुभध्यान में लीन हो गई। ध्यान का उत्कर्ष बढ़ता ही चला गया और उसी समय उन्हें केवलज्ञान-केवलदर्शन हो गया तथा उसी क्षण में शेष कर्मों का क्षय कर हाथी के हौदे पर बैठे-बैठे ही सिद्ध-बुद्ध और मुक्त हो गईं। इस अवसर्पिणी काल में सर्वप्रथम मोक्ष माता मरुदेवी को होना माना जाता है। जब भरत क्रन्दना करने लगे तब भगवान् ने फरमाया **मरुदेवा सिद्धा।**

तीर्थ-स्थापना :

फाल्गुण कृष्णा एकादशी के दिन भगवान् ऋषभदेव ने अपनी प्रथम देशना दी, जिससे प्रभावित होकर अनेक भव्य प्राणियों ने संयम व्रत स्वीकार किया और अनेक ने श्रावकव्रत अंगीकार किया। परिणामस्वरूप साधु-साध्वी तथा श्रावक-श्राविका रूप चतुर्विध तीर्थ की स्थापना हुई और भगवान् तीर्थंकर कहलाये। भगवान् ने अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह की मीमांसा की। उन्होंने कहा, "जीवन का लक्ष्य भोग नहीं त्याग है, राग नहीं वैराग्य है, वासना नहीं साधना है।" प्रव्रज्या लेने वालों मे सम्राट भरत के पाँच सौ पुत्र व सात सौ पौत्र तथा ब्राह्मी आदि सम्मिलित थे। सम्राट भरत ने श्रावक व्रत ग्रहण किया और सुन्दरी ने श्राविका व्रत अंगीकार किया।

अठानवें भाइयों द्वारा दीक्षाव्रत लेना :

सम्राट भरत पूरे क्षेत्र पर अपना एकछत्र शासन चाहते थे। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए वे चक्ररत्न लेकर विजय यात्रा के लिए चल पड़े। सब स्थानों पर अपनी विजय पताका फहराने के पश्चात् उन्होंने अपने भाइयों के पास अधीनता स्वीकार करने के लिए संदेश भिजवाया। भाइयों को अपने अग्रज का यह संदेश अनुचित लगा। वे समाधान के लिए भगवान् ऋषभदेव के समीप गए। उन्होंने अपने पिताश्री को अपनी समस्या बताते हुए समाधान चाहा। भगवान् ने समाधान देते हुए फरमाया—"यह तो नाशवान राज्य है। मैं तुम्हें ऐसे राज्य का स्वामी बनने का मार्ग बताता हूँ जो शाश्वत है और प्राप्त होने पर उसका कोई भी अधिग्रहण नहीं कर सकता।" भगवान् की वीतराग वाणी श्रवण कर अठानवें ही भाइयों ने भगवान् की सेवा में प्रव्रज्या अंगीकार कर ली।

भरत और बाहुबली :

सम्राट भरत पूरे क्षेत्र में अपना अखण्ड शासन स्थापित करना चाहते थे। अठानवें भाइयों द्वारा प्रव्रज्या ग्रहण करने से उनका मार्ग प्रशस्त हो गया था, फिर भी एक बाधा बाहुबली की थी कि इस महाबली पर किस प्रकार विजय प्राप्त की जावे ? जब तक बाहुबली पर विजय नहीं मिलती तब तक इच्छा की पूर्ति सम्भव नहीं थी। अतः सम्राट भरत ने अपने लघु भ्राता के पास दूत भेजकर अधीनता स्वीकार करने का संदेश पहुँचाया। संदेश सुनकर बाहुबली की भृकुटी तन गई, क्रोध में तमतमा गये। उसी क्रोधावस्था में उन्होंने कहा—"अठानवें भाइयों का राज्य छीनकर भी भरत की राज्य-तृष्णा शांत नहीं हुई और अब वह मेरे राज्य पर भी अधिकार करना चाहता है। उसे अपनी शक्ति का गर्व है, वह सबको दबाकर रखना चाहता है, यह शक्ति का सदुपयोग नहीं, दुरुपयोग है, भगवान् द्वारा स्थापित सुव्यवस्था का अतिक्रमण है। ऐसी स्थिति में मैं चुप्पी नहीं साध सकता। मैं उसे बतला दूंगा कि आक्रमण करना कितना बुरा होता है।"

बाहुबली की बात सुनकर दूत लौट गया और उसने बाहुबली द्वारा कही गई बात अपने सम्राट भरत को कह दी। अब सम्राट भरत के समक्ष समस्या उपस्थित हो गई कि क्या किया जावे ? अंततः सम्राट भरत ने निर्णय कर बाहुबली के राज्य पर आक्रमण कर ही दिया। दोनों पक्षों की सेना में भीषण संग्राम छिड़ गया। कभी बाहुबली का पलड़ा भारी होता दिखाई देता तो कभी सम्राट भरत का। वर्षों तक युद्ध चलता रहा। व्यर्थ हिंसा को देखकर यह निर्णय हुआ कि युद्ध तो भरत और बाहुबली के मध्य है। इसके लिये व्यर्थ खून क्यों बहाया जावे, क्यों नहीं दोनों के बीच ही युद्ध हो, जो जीत जायेगा वही विजेता होगा।

निर्णयानुसार दोनों भाइयों में द्वन्द्व युद्ध हुआ। दृष्टियुद्ध, वाक्युद्ध, बाहुयुद्ध और मुष्टियुद्ध में विजयश्री बाहुबली के पक्ष में रही। भरत पराजित होकर निस्तेज हो रहा था। यदि वह अंतिम रूप से परास्त हो जाता है तो उसका चक्रवर्ती सम्राट होने का स्वप्न चूर-चूर हो जायेगा। चक्रवर्ती सम्राट बाहुबली बन जायेगा। पराजय की इस कुंठा से हताश होकर भरत ने बाहुबली पर चक्र से प्रहार कर दिया। इससे चारों ओर हाहाकार मच गया। यह सर्वविदित था कि चक्र का वार कभी खाली नहीं जाता है।

भरत के द्वारा चक्र से प्रहार करना युद्ध के नियमों का उल्लंघन था, अनीतिपूर्ण कृत्य था। बाहुबली के पक्षवालों ने चक्र को रोकने का असफल

प्रयास किया। चक्र आगे बढ़ता गया किंतु यह क्या ? शिरोच्छेदन करने के स्थान पर चक्र बाहुबली की परिक्रमा करके लौट गया। बाहुबली की इस विजय से हर्ष की लहर फैल गयी। गगन मंडप विजय घोषों से गूंज उठा।

एक प्रश्न सहज पाठकों के मानस पटल पर उभर सकता है कि चक्ररत्न क्यों लौटा ? उत्तर में कहा जा सकता कि बाहुबली भरत के ही परिवार के सदस्य थे और चरम शरीरी थे, इसलिये चक्ररत्न बाहुबली की परिक्रमा करके लौट गया।

भरत के अनीतिपूर्ण व्यवहार से क्रोधित होकर बाहुबली ने भरत पर प्रहार करने के लिए अपनी मुष्टि उठाई। इसे देखकर वहां उपस्थितजनों के हृदय कांप उठे। सभी एक स्वर में प्रार्थना करने लगे—"क्षमा करें, क्षमा करें।" सामर्थ्यवान होकर जो क्षमा करता है वह बड़ा होता है। भरत ने भूल की है, आप उस भूल को क्षमा कर भूल जायें। भूल का प्रतिकार भूल से नहीं होता है।

बाहुबली के कर्णकुहरों में ये स्वर पड़े। शांत मन से विचार करने लगे कि भगवान् ऋषभदेव की संतानों की परम्परा हिंसा की नहीं, अहिंसा की है। अब उठा हुआ हाथ खाली कैसे जाये ?

बाहुबली ने विवेक से काम लिया। अपने उठे हुए हाथ को अपने सिर पर डाला और केश लोंच कर श्रमण बन गए। वहीं से उन्होंने भगवान् ऋषभदेव के चरणों में भाववंदन किया और अपने अपराध के लिए क्षमा याचना की।

बाहुबली चाहते तो चक्रवर्ती सम्राट बन सकते थे किन्तु स्व-विवेक का उपयोग कर भोग के स्थान पर त्याग का मार्ग अपनाया और उठी हुई मुट्ठी से अपने केशों का लुंचन (लोंच) कर साधुत्व धारण किया। बाहुबली का यह महान व आदर्श त्याग था। उन्होंने विराट वैभव को ठुकराकर विश्व के सम्मुख त्याग का आदर्श रूप उपस्थित किया।

बाहुबली की तपस्या :

श्रमण धर्म स्वीकार करने के पश्चात् बाहुबली भगवान् ऋषभदेव के चरणों में जाने के लिए आगे बढ़े किन्तु बढ़ते कदम रुक गए। उन्हें स्मरण हो आया कि वहाँ उनके लघु भ्राता भी हैं, जो संयम में उनसे ज्येष्ठ हैं, किंतु अग्रज होने के कारण उन्हें वन्दन कैसे किया जाये ? असंतोष पर विजय प्राप्त करने वाले बाहुबली अस्मिता से पराजित हो गये। एक वर्ष तक अडोल ध्यानावस्था में रहने के बावजूद केवलज्ञान की उपलब्धि नहीं हुई। उनके शरीर पर लताएँ चढ़ गई, पक्षियों ने घोंसले बना लिए, पैर वाल्मिकों से वेष्टित हो

गए। फिर भी असफल ही रहे। केवलज्ञान का दिव्य-आलोक की प्राप्ति नहीं हो सकी। इसका कारण यह था कि अभी भी उनके मानस में अभिमान विद्यमान था।

बाहुबली को केवलज्ञान :

एक दिन भगवान् ऋषभदेव ने ब्राह्मी सुन्दरी के समक्ष बाहुबली की उत्कृष्ट उत्कट तपस्या के सम्बन्ध में बताते हुए कहा—"बाहुबली की तपश्चर्या महान है। उसने अपने अनन्तानन्त पूर्वोपार्जित कर्मों को ध्यान व तपश्चर्या की अग्नि में होम कर भस्मीभूत कर दिये हैं। इतना सब होते हुए भी प्रतिबन्धक मान कषाय शेष रहने से उसे केवलज्ञान, केवलदर्शन नहीं हो पा रहा है। तुम दोनों उसके पास जाओ। तुम्हारा निमित्त पाकर वह अभिमान का त्याग कर देगा और उसे केवलज्ञान, केवलदर्शन हो जावेगा।"

भगवान् की प्रेरणा से दोनों बहनें बाहुबली के निकट पहुंची और नमन कर संगीत लहरी बिखेर दी—

वीरा म्हारा गज थकी उतरो।
गज चढ्यां केवल नहीं होसी रे।

बाहुबली के कर्ण कुहरों मे जैसे ही ये शब्द पड़े, उनका ध्यान भंग हुआ और चिंतन का प्रवाह चल पड़ा। यहां वन में हाथी कहाँ? मैं तो यहां भूमि पर खड़ा हूँ। मैंने कौनसे हाथी की सवारी कर रखी है। दोनों बहनें इस घोर निर्जन वन में क्यों आई हैं? इस चिंतन में उनके चिंतन का प्रवाह परिवर्तित हुआ। ओह! मैं गलत मार्ग पर हूँ। मैं मान रूपी हाथी पर सवार हूँ। मैं व्यर्थ में अवस्था के भेद में उलझ गया। मेरे भाई वय में भले ही छोटे हैं किन्तु संयम में मुझसे ज्येष्ठ हैं, मुझे उन्हें वन्दन करने जाना चाहिये। बस इस भावना के आते ही उनके कदम उठे और समस्त बन्धन टूट गए। उन्हें केवलज्ञान, केवलदर्शन हो गया। केवली के भगवान् के चरणों में पहुंचे। भगवान् एवं तीर्थ को नमन कर केवली परिषद् में बैठ गए।

आदि परिव्राजक मरीचि :

मरीचि सम्राट भरत का पुत्र था। जब भगवान् ऋषभदेव का केवलज्ञान महोत्सव मनाया जा रहा था, तब उसे देखकर मरीचि अपने पांच सौ भाइयों को साथ लेकर प्रव्रजित हो गया था। संयम व्रत का पालन करते हुए उसने एकादश अंगों का अध्ययन किया। एक बार ग्रीष्म के भीषण आतप को सहन नहीं कर पाया। उसके मन में संकल्प-विकल्प मंडराने लगे। संयम व्रत का

त्याग कर गृहस्थाश्रम में पुनः जाना उचित नहीं, फिर कठोर संयमव्रत का भी पालन संभव नहीं। इस चिंतन में उसने अपनी अलग ही वेश-भूषादि निश्चित की और विचरण करने लगा। मरीचि ने अनेक भव्य प्राणियों को प्रेरणा प्रदान कर भगवान् ऋषभदेव का शिष्य भी बनाया। उसने जो मार्ग अपनाया वह परिव्राजक कहलाया।

एक बार सम्राट भरत ने भगवान् ऋषभदेव के सम्मुख जिज्ञासा प्रकट करते हुए कहा—"प्रभु! क्या इस परिषद् में कोई ऐसा व्यक्ति है जो आपके समान ही भरत क्षेत्र में तीर्थंकर पद प्राप्त करेगा?"

भगवान् ऋषभदेव ने समाधान प्रस्तुत करते हुए फरमाया—"तुम्हारा पुत्र मरीचि परिव्राजक "वीर" नामक अंतिम तीर्थंकर बनेगा। वह इससे पूर्व पोतनपुर का अधिपति त्रिपृष्ट वासुदेव होगा और विदेहक्षेत्र की मूका नगरी में प्रियमित्र नामक चक्रवर्ती होगा।"

भगवान् ऋषभदेव के मुख से मरीचि के विषय मे भविष्यवाणी सुनकर सम्राट भरत परिव्राजक मरीचि के सन्निकट पहुँचे और भगवान् द्वारा की गई भविष्यवाणी सुनाई और वंदन किया फिर सम्राट भरत ने यह भी बता दिया कि तुम वासुदेव और चक्रवर्ती भी बनोगे।

यह भविष्य जानकर मरीचि प्रसन्न हो गया। मन ही मन विचार करने लगा "मैं वासुदेव, चक्रवर्ती और तीर्थंकर बनूंगा। मेरे पिता चक्रवर्ती हैं, पितामह तीर्थंकर हैं। मैं अकेला तीन पदों को धारण करूँगा। मेरा कुल कितना उत्तम है।"

मरीचि का शिष्य कुमार कपिल था। उसने मरीचि द्वारा स्थापित परिव्राजक धर्म को सुव्यवस्थित स्वरूप प्रदान कर एक नवीन परम्परा की शुरूआत की।

भरत को मोक्ष :

चक्रवर्ती सम्राट होकर भी भरत के मन में अपने साम्राज्य और वैभव के प्रति आसक्ति का भाव नहीं था। उनके मन में अधिकारों के प्रति भी कोई अभिलाषा या तृष्णा नहीं थी। अपने सुशासन के कारण वे इतने लोकप्रिय हो गए थे कि उनके नाम पर इस देश का नाम भारतवर्ष रखा गया। उत्तरदायित्व की भावना से भरत ने सुदीर्घ काल तक शासन किया। उनके मन में भोग भावना, अधिकार भावना बिल्कुल नहीं थी।

धर्म प्रचार करते हुए भगवान् ऋषभदेव किसी समय विनीता नगरी में पधारे। यहाँ उनके समक्ष किसी जिज्ञासु द्वारा प्रश्न उपस्थित किया गया। जिसके समाधान में भगवान् ने फरमाया कि—भरत इसी भव में मोक्ष प्राप्त

करेंगे, कारण यह कि भरत ने अपने भ्राताओं के साथ जो व्यवहार किया, उससे वे स्वयं लज्जित थे। भ्राताओं का राज्य प्राप्त कर लेने के पश्चात् भी उनके मन में शांति नहीं थी। वे कमलवत् साम्राज्य का उपभोग कर रहे थे। वे पूर्णतः अनासक्त थे। आसक्ति भाव उनमें रंच मात्र भी नहीं था।

चोरी के एक प्रसंग में सम्राट भरत ने बार-बार चोरी करने पर चोर को मृत्यु दण्ड सुना दिया। इस पर एक व्यक्ति ने सम्राट की कटु आलोचना की। इससे चिंतन होने लगा। उधर भाइयों के साथ किये गए अपने व्यवहार से मन में अशांति थी ही। चिंतन धारा वेग से बढ़ने लगी। एक प्रसंग ऐसा आया—

वैराग्योदय :

एक दिन सम्राट भरत स्नान के पश्चात् अपने वस्त्राभूषण धारण कर अपना शारीरिक वैभव निहारने दर्पण कक्ष में गए। संयोगवश उनकी एक अंगुली से अंगूठी खिसक कर गिर पड़ी। दर्पण में अपना अद्भुत रूप निहारते अनायास सम्राट की दृष्टि शोभा-विहीन अंगुली पर पड़ी और मन में विचार उठा—"क्या शरीर की शोभा अलंकारों से ही है? और एक-एक कर उन्होंने अपने सभी आभूषण उतार कर अपना रूप देखा। विचारों की शृंखला आगे बढ़ी—"शरीर का सारा सौष्ठव यदि अलंकारों से है तो यह व्यर्थ है। ऐसे अलंकार दूँदूँ जिसमें आत्मा का वैभव अजस्र हो जाए।" और यह विचार शृंखला पल-पल उच्चसारीक होती गई। पहले वैराग्य का उदय हुआ और तब धीरे-धीरे कर्म-बंधन टूट गए। सम्राट सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो गए।

परिनिर्वाण :

सर्वज्ञ भगवान् ऋषभदेव अपने जीवन का अंत निकट जानकर दस हजार श्रमणों के साथ अष्टापद पर्वत पर पधारे। इस समय तीसरे आरे के तीन वर्ष और साढ़े आठ माह अवशेष थे। अष्टापद पर्वत पर पहुंच कर भगवान् चतुर्थ भक्त के अनशन तप में ध्यानस्थ हो गये। शुक्लध्यान के चतुर्थचरण में प्रविष्ट हुए। भगवान् ने चार अघाति कर्मों का क्षय किया और माघ कृष्णा त्रयोदशी को अभिजित नक्षत्र में समस्त कर्मों का क्षय कर निर्वाण पद प्राप्त कर लिया। भगवान् सिद्ध-बुद्ध और मुक्त हो गए। निर्वाण प्राप्ति के पूर्व भगवान् ने अनेक जनपदों में विचरण करते हुए अनेक जीवों के कल्याण का मार्ग प्रशस्त किया था।

धर्म-परिवार :

भगवान् ऋषभदेव का परिवार अति विशाल था। सम्पूर्ण धर्म संघ विभिन्न गुणों के आधार पर सात श्रेणियों में विभक्त था—(१) केवलज्ञानी, (२) मनःपर्यवज्ञानी, (३) अवधिज्ञानी, (४) वैक्रियलब्धिधारी, (५) चौदहपूर्वधर, (६) वादी और (७) सामान्य साधु।

भगवान् ऋषभदेव के धर्म परिवार की विशालता इस सूची से ज्ञात होती है—

गणधर	८४
केवली	२०,०००
मनःपर्यवज्ञानी	१२,६५०
अवधिज्ञानी	९,०००
वैक्रियलब्धिधारी	२०,६००
चौदह पूर्वधारी	४७५०
वादी	१२,६५०
साधु	८४,०००
साध्वी	३,००,०००
श्रावक	३,०५,०००
श्राविका	५,५४,०००

भगवान् का कुल आयुष्य चौरासी लाख पूर्व कहा गया है।

□□□

हाथी

२ भगवान् अजितनाथ

संस्कृति के आद्य निर्माता, प्रथम राजा एवं प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव के काफी समय पश्चात् भगवान् श्री अजितनाथ दूसरे तीर्थंकर हुए।

पूर्वभव :

मनुष्य का वर्तमान जीवन उसके पूर्वजन्म के संस्कारों पर निर्भर करता है। मनुष्य का यह जीवन कर्मसत्ता के अनुरूप होता है। वर्तमान जीवन की स्थिति उसके द्वारा पूर्वजन्म में कृत-कर्मों पर निर्भर करती है। यह स्थिति प्रत्येक प्राणी के लिए लागू रहती है। भगवान् अजितनाथ का वर्तमान जीवन भी उनके पूर्व-भव में किये गये कर्मों का प्रतिफल था।

जम्बूद्वीप के महाविदेह क्षेत्र में सीता नामक महानदी के दक्षिणी तट पर सुसीमा नामक नगरी थी। सुसीमा नगरी अतिसुन्दर रमणीय एवं समृद्ध थी। वहाँ विमलवाहन नामक शूरवीर, दानवीर, दयावीर और धर्मवीर राजा राज करता था। राजा विमलवाहन, न्यायप्रिय, नीतिनिपुण योग्य शासक था। यह भी कह सकते हैं कि एक योग्य एवं श्रेष्ठ शासक के समस्त गुणों से वह मंडित था। राज्य का स्वामी होते हुए भी वह भोगों के प्रति आसक्त नहीं था। वह जल में कमलवत् रह रहा था।

राजा विमलवाहन राजकाज के साथ-साथ आत्मचिंतन भी करता रहता था। इसी अनुक्रम में एक दिन राजा के मानस पटल पर विचार उत्पन्न हुए कि मानव भव पाकर प्राणी को क्या करना चाहिये। चिंतन का प्रवाह चला कि मनुष्य अपने क्षणिक सुख एवं स्वार्थ के लिये अपना जीवन समाप्त कर देता है। मनुष्य इसे ही अपने जीवन का परम लक्ष्य मानकर अन्य प्राणियों के लिये चिंता, भय, कष्ट और संताप का कारण बना रहता है। पाप कर्मों में वह आनन्दानुभूति का अनुभव करता है। शारीरिक सुखों, मान-प्रतिष्ठा आदि भौतिक वस्तुओं के लिये वह विभिन्न प्रकार के कष्टों और खतरों में अपने आपको डालता रहता है। इनके लिये तो वह बहुत कुछ करता है किंतु वह आत्मोत्थान की दिशा में कुछ सोचता तक नहीं है, क्या मनुष्य जीवन की सार्थकता इसी में है? क्या इसे मानव जीवन की सफलता कहा जा सकता है? इसी प्रकार का चिंतन राजा विमलवाहन के मस्तिष्क में सतत चलता रहता।

एक समय आचार्य अरिदमन का आगमन सुसीमा नगरी के उद्यान में हुआ। आचार्य अरिदमन अपने समय के महान तपस्वी आचार्य थे। राजा विमलवाहन को जब आचार्य अरिदमन के शुभागमन का समाचार मिला तो वह हर्ष विभोर हो गया। उसने नवीन प्रेरणा एवं उत्साह का अनुभव किया। वह प्रफुल्ल मन से उद्यान में पहँचा और आचार्यश्री के दर्शन-वंदन करके भाव-विभोर हो गया। उसका रोम-रोम पुलकित हो गया। इस अवसर पर आचार्यश्री ने त्याग एवं वैराग्य पर अपना प्रवचन फरमाया। प्रवचन श्रवण कर राजा विमलवाहन की समस्त दुविधाएं और समस्यायें समाप्त हो गईं। उसका हृदय वैराग्य से ओत-प्रोत हो गया। यौवनकाल में ही राजा विमलवाहन ने अपना राज्य अपने पुत्र को सौंपकर संयम मार्ग अपना लिया।

दीक्षाव्रत अंगीकार करने के पश्चात् मुनि विमलवाहन तपस्या में तल्लीन हो गए। मुनि विमलवाहन ने अपने मुनि-जीवन में कठोरतम तपस्याएँ कीं। साथ ही ध्यान, स्वाध्याय, सेवा आदि मे भी संलग्न रहे। अंत में कर्म-निर्जरा करके तीर्थंकर नामकर्म का बंध किया और फिर अनशनपूर्वक देह त्यागा। देह त्यागकर वे अहमिन्द्र देव के रूप में विजय नामक अनुत्तर विमान में उत्पन्न हुए।

जन्म एवं वंश :

ऐतिहासिक विनीता नगरी पर राजा जितशत्रु का राज था। उसकी रानी विजया देवी पतिपरायणा एवं अति धर्मपरायणा महिला थी। वैशाख शुक्ला त्रयोदशी के दिन रोहिणी नक्षत्र के सुयोग मे विमलवाहन का जीव विजय विमान से च्युत होकर उसी रात्रि में महारानी विजया देवी के गर्भ में उत्पन्न हुआ। उसी रात्रि में महारानी विजया देवी ने चौदह शुभ स्वप्न देखे। उसी रात्रि में राजा जितशत्रु के अनुज युवराज सुमित्र की पत्नी वैजयंती ने भी चौदह महास्वप्न देखे।

प्रातःकाल स्वप्नशास्त्रियों को बुलाया गया और उन्हें दोनों रानियों के द्वारा देखे गए स्वप्नों का विवरण बताकर उनका फल पूछा गया। स्वप्नों का विवरण सुनकर स्वप्नशास्त्री आश्चर्यचकित रह गये। उनके आश्चर्य का कारण यह था कि दोनों रानियों को एक साथ चौदह महा स्वप्न कैसे आए? विचार-मंथन के पश्चात् स्वप्न-शास्त्री इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि एक रानी की कुक्षि से तीर्थंकर और दूसरी रानी की कुक्षि से चक्रवर्ती का जन्म होना चाहिए। उन्होंने अपने निष्कर्ष की घोषणा कर दी। स्वप्न-शास्त्रियों के कथन को सुनते ही परिवार में हर्ष एवं उल्लास छा गया। चारों ओर आनन्द की लहर व्याप्त हो गई। दोनों महारानियों की प्रसन्नता तो असीम थी। वे सावधानीपूर्वक अपने-अपने गर्भ का पालन करने लगीं।

गर्भकाल पूर्ण होने के पश्चात् माघ शुक्ला अष्टमी की मध्यरात्रि की प्रथमवेला में महारानी विजयादेवी की पावन कुक्षि से एक पुत्ररत्न का जन्म हुआ। पुत्ररत्न के जन्म के साथ ही चारों ओर आनन्द व्याप्त हो गया। सारे साम्राज्य में उत्साह व्याप्त हो गया। सभी ओर आनन्द ही आनन्द था। उधर सुमित्र की पत्नी वैजयंती की कुक्षि से भी पुत्ररत्न का जन्म हुआ। भगवान् का जन्म कल्याणक इस पृथ्वी पर ही नहीं, देवेन्द्रों ने भी उत्साहपूर्वक मनाया। देवताओं ने पुष्पवृष्टि एवं मंगलगीतों के माध्यम से अपना हर्ष प्रकट किया। इस अवसर पर महाराज जितशत्रु ने याचकों को मनोवांछित दान दिया और कारागार से कैदियों को मुक्त कर दिया। ग्यारह दिनों तक सारे साम्राज्य में उत्सव मनाया गया।

नामकरण :

भगवान् के जन्म के बारहवें दिन नामकरण करना था। इसलिये महाराज जितशत्रु ने पारिवारिक प्रीतिभोज का आयोजन किया। परिवार के सभी सदस्यों ने पुत्ररत्न को अपनी-अपनी गोद में लिया और आशीर्वाद दिया। नामकरण पर विचार-विमर्श होने लगा। सभी अपने-अपने हिसाब से नाम बताने लगे। महारानी विजयादेवी ने बताया—"विवाहोपरांत मैं जब भी महाराज के साथ द्यूत-क्रीड़ा खेली, मुझे हर समय पराजित होना पड़ा। मेरी हार्दिक इच्छा थी कि द्यूत-क्रीड़ा में कम से कम मैं एक बार तो विजय प्राप्त करूँ। मेरी यह इच्छा इस बालक के गर्भ में आने के पश्चात् पूरी हुई। गर्भकाल की अवधि में जितनी बार भी यह खेल हुआ, हर बार विजय मेरी ही हुई। मुझे महाराज जीत नहीं सके।"

महाराज जितशत्रु ने बताया—"जब से बालक अपनी माता के गर्भ में आया तभी से मुझे अपने राज्य की सीमाओं से तथा सीमावर्ती राज्यों से अपने गुप्तचरों से यह सूचना मिलती रही कि शत्रु राजाओं के मन में ऐसी धारणा उत्पन्न हो गई है कि महाराज जितशत्रु अजेय हैं, उनके साथ शत्रुता रखना अपने विनाश को निमंत्रण देना है। यद्यपि मैंने अपनी ओर से किसी प्रकार की सैनिक तैयारी नहीं की थी तथापि इस प्रकार की धारणा के उत्पन्न होने का कारण मैं इस बालक को ही मानता हूँ। इसके प्रभाव के कारण सभी यह समझते रहे कि कोई मुझे जीत नहीं सकता। अतः मेरा अभिमत तो यह है कि इस बालक का नाम "अजित" रखना ठीक रहेगा।" चूंकि यह नाम गुणसूचक था, इसलिये परिवार के सभी सदस्य इस नाम पर सहमत हो गए और बालक का नाम "अजित" रखा गया। सुमित्र के बालक का नाम "सगर" रखा गया।

गृहस्थ जीवन और राज्य :

अजितनाथ और सगर समय के प्रवाह के साथ युवा हुए। उनके युवा होने पर अनेक स्थानों से उनके पाणिग्रहण हेतु सम्बन्ध आने लगे। माता-पिता

ने भी दोनों राजकुमारों के लिए योग्य राजकुमारियों का चयन किया। अजित की इच्छा तो विवाह करने की नहीं थी किंतु माता-पिता के आग्रह के कारण विवाह की स्वीकृति देनी पड़ी। यथासमय दोनों राजकुमारों का योग्य एवं सुन्दर राजकन्याओं के साथ विवाह सम्पन्न हो गया।

कालांतर में अपनी वृद्धावस्था देखकर महाराज जितशत्रु ने अपने पुत्र अजितनाथ को शासन संभालने का आग्रह किया किंतु अजितनाथ ने सविनय सुझाव दिया कि राज्यभार का कार्य सुमित्र को सौंप दिया जाये। काका सुमित्र ने भी राज्यभार स्वीकार नहीं किया तब मजबूरीवश अजित को राज्य भार स्वीकार करना पड़ा। वे अपने माता-पिता के आग्रह की अवज्ञा नहीं कर सके। अजित को राज्य सौंप कर महाराज जितशत्रु युवराज सुमित्र के साथ दीक्षा ग्रहण कर साधना में लीन हो गए।

महाराज अजित के शासन काल में जनता सर्वथा सुखी और प्रसन्न थी। उनके सम्पूर्ण राज्य में कहीं भी किसी भी वस्तु का अभाव दिखाई नहीं देता था। परिणामस्वरूप जनता के हृदय में अपने महाराजा अजितनाथ के प्रति गहरी आस्था उत्पन्न हो गई। शासन करते समय महाराज अजित अपने कर्त्तव्य के प्रति सजग रहे। अधिकार वाली बात के विषय में तो उन्होंने कभी सोचा भी नहीं। शनैः-शनैः भोगावलि कर्म का प्रभाव कम हो गया और उनके हृदय में विरक्ति के भाव जाग्रत होते गए। अंततः भोगावलि कर्म क्षीण हुआ और उन्होंने राज्य भार सुमित्र के पुत्र सगर को सौंपकर प्रव्रज्या अंगीकार करने का संकल्प कर लिया।

राज्य का त्याग, वर्षीदान एवं दीक्षा :

अपने चचेरे भ्राता सगर को राज्य का भार सौंपकर आपने वर्षीदान प्रारम्भ कर दिया। वे प्रतिदिन एक करोड़ आठ लाख स्वर्ण मुद्राओं का दान देते थे। एक वर्ष तक लगातार दान दिया। उन्होंने एक वर्ष में तीन अरब अठ्यासी करोड़ और अस्सी लाख स्वर्ण मुद्राओं का दान दिया। तदनन्तर माघ शुक्ला नवमी के दिन दीक्षा ग्रहण कर ली। ग्रहस्त्राश्रवन में भगवान् अजितनाथ ने पंच मुष्टिक लोच कर सम्पूर्ण सावद्य कर्मों का त्याग किया। इस अवसर पर उपस्थित असंख्य दर्शकों ने जय-जयकार किया। भगवान् अजिनाथ के साथ एक हजार अन्य राजा व राजकुमारों ने भी संयमव्रत अंगीकार किया। उस समय भगवान् अजितनाथ बेले की तपस्या में थे। दीक्षाव्रत अंगीकार करते ही उन्हें मनःपर्यव ज्ञान प्राप्त हुआ।

दीक्षाव्रत अंगीकार करने के दूसरे दिन भगवान् अजितनाथ का अयोध्या में ही राजा ब्रह्मदत्त के यहाँ क्षीरान्न से बेले के तप का पारणा हुआ।

साधना और केवलज्ञान :

दीक्षाव्रत अंगीकार करने के बारह वर्ष तक उन्होंने कठोर तपस्या एवं उत्कृष्ट साधना की। इस अवधि में विभिन्न ग्रामों में विचरण करते रहे तथा इसी विहार क्रम में भगवान् पुनः अयोध्या पधारे। पौष शुक्ला एकादशी के दिन भगवान् ध्यानावस्था में क्षपक श्रेणी चढ़े, घातिक कर्मों का क्षय हुआ और भगवान् को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ। वे सर्वज्ञ हो गए। देवों ने उत्सव किया। तीर्थ-स्थापना की गई। भगवान् की प्रथम देशना हुई। प्रथम देशना में ही असंख्य लोगों को वैराग्य हो गया और उन्होंने दीक्षाग्रहण करली। कई ने श्रावक धर्म अंगीकार किया। भगवान् ने अपनी देशना द्वारा चतुर्विध संघ की स्थापना की।

भगवान् अजितनाथ दीर्घ काल तक धर्म चक्र का प्रवर्तन करते रहे। लाखों लोग अध्यात्म के आलोक से आलोकित हुए। उनके भ्राता सगर को भी वैराग्योत्पत्ति हुई। सगर भी सब कुछ त्याग कर आत्मस्थ बन गए।

परिनिर्वाण :

अपना निर्वाण काल निकट जानकर भगवान् अजितनाथ एक हजार साधुओं के साथ सम्मेतशिखर पर पहुंचे। एक माह के अनशन में उन्होंने समस्त कर्मों का क्षय कर सिद्धत्व को प्राप्त किया।

धर्म परिवार :

भगवान् अजितनाथ का धर्मपरिवार इस प्रकार था—

गणधर	९५
केवली	२२,०००
मनःपर्यवज्ञानी	१२,५००
अवधिज्ञानी	९४००
चौदह पूर्वधारी	३७००
वैक्रियलब्धिधारी	२०,४००
वादी	१२,४००
साधु	१,००,०००
साध्वी	३,२०,०००
श्रावक	२,९८,०००
श्राविका	५,४५,०००

भगवान् का कुल आयुष्य बहत्तर लाख पूर्व माना जाता है।

□□□

३ भगवान् संभवनाथ

अश्व

भव-भवों की साधना के पश्चात् महापुरुषों का जन्म होता है। द्वितीय तीर्थंकर भगवान् अजितनाथ के परिनिर्वाण के पश्चात् एक दीर्घ अन्तराल के पश्चात् तीसरे तीर्थंकर भगवान् संभवनाथ का जन्म हुआ।

पूर्वभव :

प्राचीनकाल में किसी समय धातकी खण्ड के ऐरावत क्षेत्र में क्षेमपुरी नगरी में न्यायप्रिय एवं प्रजापालक राजा विपुलवाहन राज करता था। राजा अपनी असाधारण कर्त्तव्यपरायणता के कारण अपनी जनता में अतिलोकप्रिय था। एक बार राजा विपुलवाहन के राज्य में दुर्भिक्ष पड़ा। इस दुष्काल के समय राजा विपुलवाहन ने अपने राज्य के भण्डार जनता के लिए खोल दिये और अपने अधिकारियों को निर्देश दिये कि राज्य में कोई भी व्यक्ति भूखा नहीं रहना चाहिये, फिर भले ही राज्य के भण्डार ही खाली क्यों न हो जावें। इतना ही नहीं राजा विपुलवाहन ने अन्य स्थानों से अनाज मंगवाया, अपने राज्य के अनेक गांवों में अन्न क्षेत्र खोले और व्यवस्था देखने के लिए उसने राज्य में स्थान-स्थान का भ्रमण भी किया। राजा विपुलवाहन के इस व्यवहार से प्रजा में एकता तो स्थापित हुई ही, राजा के प्रति आदर एवं श्रद्धा भाव भी असाधारण रूप से उत्पन्न हो गया।

दुष्काल के प्रभाव के कारण अनेक साधु अन्य जनपदों में विचरण कर गए। कुछ साधु इसी राज्य में रह गये। जो साधु अक्षम एवं अस्वस्थ थे, उनकी परिचर्या में कुछ साधु थे। परिचर्या करने वाले साधुओं को कभी आहार मिलता, कभी नहीं मिलता। जब यह जानकारी राजा विमलवाहन को मिली तो वह स्वयं साधुओं की सेवा में पहुँचा और उनसे आग्रह किया कि वे राजमहल से आहार ले आया करें। राजा ने मुनियों को अपने यहाँ भोजन का निमंत्रण भी दिया। राजा मुनियों की आचार-चर्या से परिचित नहीं था, उसे इस तथ्य से अवगत कराया गया, उसे मुनियों की आहार-चर्या से अवगत कराया गया। इस पर राजा ने कहा कि राजमहल में सात्त्विक भोजन भी बनता है। वहाँ हमारे लिये जो भोजन बनता है उसमें से आपको दे देंगे। मुनिगण राजमहल

जाकर आहार ले आए। राजा ने अपनी प्रजा को भी मुनियों को आहार देने के लिये समझाया। राजा के समझाने पर प्रजा में से भी लोग मुनियों को भक्तिभाव सहित भिक्षा देने लगे। इतना ही नहीं राजा विपुलवाहन प्रतिदिन इस बात की जानकारी भी प्राप्त करता कि मुनियों को आहार मिला अथवा नहीं। उसके इस आचरण एवं निःस्वार्थ भाव से शुद्ध दान देने से उसकी कर्म निर्जरा हुई। अपूर्व पुण्य-बंध हुआ।

अगले वर्ष यथासमय वर्षा हुई, दुष्काल सुकाल में परिवर्तित हो गया। फसलें अच्छी होने से चहुंओर सुख-शांति का साम्राज्य हो गया। दुष्काल के समय प्रारम्भ किये गये अन्न क्षेत्र तथा अन्य सहायता केन्द्र आवश्यकता के अभाव में बंद कर दिये गए। राजकीय सहायता केन्द्र भले ही बंद हो गए हों किंतु प्रजा की राजा के प्रति निष्ठा ने स्थायी रूप से अपना स्थान बना लिया।

कालांतर में राजा विपुलवाहन को भौतिक संसार से विरक्ति हो गई और उन्होंने अपना राज्य अपने पुत्र को सौंपा तथा आचार्य स्वयंप्रभु की सेवा में दीक्षाव्रत अंगीकार कर लिया। मुनि विपुलवाहन ने अपनी साधना के द्वारा अशुभ कर्मों की निर्जरा करते हुए तीर्थंकर नामकर्म गोत्र का उपार्जन किया। अंत में समाधिमरण को प्राप्त होकर नौवें देवलोक में देव बने।

जन्म एवं वंश :

श्रावस्ती नगरी में राजा जितारि राज करते थे। उनकी महारानी का नाम सेनादेवी था। विपुलवाहन का जीव महारानी सेनादेवी के गर्भ में उत्पन्न हुआ। जिस दिन यह जीव महारानी सेनादेवी की कुक्षि में आया, वह दिन था फाल्गुन शुक्ला अष्टमी और नक्षत्र था मृगशिरा। जैसे ही विपुलवाहन का जीव स्वर्ग से च्युत होकर महारानी सेनादेवी के गर्भ में आया वैसे ही महारानी सेनादेवी ने चौदह स्वप्न देखे। स्वप्न देखकर महारानी हर्षित भी हुई और विस्मित भी। महारानी सेनादेवी ने अपने पति राजा जितारि को जगाया और स्वप्नों का विवरण कह सुनाया। स्वप्न सुनकर राजा जितारि हर्षित हो गया और अपनी रानी से कहा—"अब तुम शेष रात्रि धर्मध्यान में व्यतीत करो, सोना मत। प्रातःकाल स्वप्नशास्त्रियों को बुलाकर इन स्वप्नों का फल ज्ञात कर लिया जाएगा।"

प्रातःकाल राजा जितारि ने स्वप्न-शास्त्रियों को बुलवाकर उन्हें अपनी महारानी द्वारा देखे गए चौदह महास्वप्नों का विवरण बताकर उनका फल जानने का औत्सुक्य प्रकट किया। स्वप्नशास्त्रियों ने अपने अध्ययन और शास्त्रों के

आधार पर एक स्वर में घोषणा की कि महारानी की कुक्षि में तीर्थंकर अथवा चक्रवर्ती के रूप मे पुण्यशाली जीव प्रकट हुआ है। इस पुत्ररत्न से आपका नाम अमर हो जायेगा। आपका यह पुत्ररत्न प्राणि-मात्र का दुःख दूर करने वाला होगा।

स्वप्नशास्त्रियों की इस घोषणा से चारों ओर हर्षोल्लास का वातावरण छा गया।

महारानी सेनादेवी सावधानीपूर्वक गर्भ की पालना करने लगी। गर्भकाल पूर्ण हुआ और मिगसर शुक्ला चतुर्दशी की मध्यरात्रि में महारानी सेनादेवी ने एक पुत्ररत्न को जन्म दिया। सबसे पहले इन्द्रों ने जन्मोत्सव मनाया। तत्पश्चात् राजा जितारि तथा राज्य की जनता ने जन्मोत्सव मनाया। ग्यारह दिन तक सम्पूर्ण राज में जन्मोत्सव की धूम रही।

नामकरण :

बारहवें दिन नामकरण के लिए राज्य के प्रतिष्ठित व्यक्ति उपस्थित हुए। नवजात बालक के नामकरण पर बात चली। तब राजा जितारि ने बताया कि जब से इस बालक का जन्म हुआ है तभी से राज्य में अकल्पनीय परिवर्तन होने लगे। चहुँओर समृद्धि होने लगी। फसलें भी पूर्व की अपेक्षा काफी अच्छी हुई और पैदावार मिली। मेरे विचार से जो भी विकास हुआ, प्रगति दिखाई दे रही है, समृद्धि दृग्गोचर हो रही है वह सब इस बालक के कारण ही संभव प्रतीत होती है। अतः मेरे मतानुसार बालक का नाम संभव रखना उचित लगता है। वहां उपस्थित सभी व्यक्तियों ने राजा जितारि का समर्थन किया और इस प्रकार बालक का नाम संभव कुमार रखा गया।

गृहस्थ-जीवन और राज्य :

समय के प्रवाह के साथ-साथ राजकुमार संभव वृद्धिगत होते गए और इसके साथ ही उनके शुभलक्षण और शुभकर्म भी प्रकट होते गए। उनके व्यक्तित्व में तेज, पराक्रम और वीरता की झलक मिलने लगी। युवा होने पर राजा जितारि ने श्रेष्ठ और सुन्दर राजकुमारिकों के साथ राजकुमार संभव का विवाह किया। कालांतर में राजा जितारि को संसार से विरक्ति होने पर उन्होंने राज्यभार राजकुमार संभव को सौंपा और वे दीक्षाव्रत अंगीकार कर साधना में लीन हो गए।

अब संभव राजा हो गए। सत्ताधारी होने के कारण सुखोपभोग की सभी सुविधायें उन्हें सुलभ थीं। इन सुखों, विलासों में उन्हें कोई आसक्ति नहीं थी। वे अनासक्त भाव से अपने कर्त्तव्य का पालन करते रहे। उनके शासन काल में राज्य में अद्भुत प्रगति हुई। सम्पूर्ण राज्य में सुख और शांति का

साम्राज्य छाया रहा। उनके शासन में सुख और समृद्धि निरन्तर बनी रही। उनसठ लाख पूर्व तक राजा संभव गृहस्थावस्था में रहे। गृहस्थावस्था में रहते हुए उनके मन में सर्वजनहिताय की भावना उत्पन्न होने लगी। सोई हुई आत्माओं को जगाने के विचार उत्पन्न होने लगे। भोगावली कर्मों की समाप्ति निकट जानकर संभव अनासक्त होकर विश्व के समक्ष दूसरे ही स्वरूप में रहे। उन्हें विरक्ति हो गई।

दीक्षा एवं केवलज्ञान :

संभव ने वर्षीदान देना शुरू कर दिया। इसमें अनेक राजा और राजकुमार जान गये कि राजा संभव दीक्षाव्रत अंगीकार करने वाले हैं। ये राजा और राजकुमार भी उनकी विरक्ति जानकर संसार को विरक्त हो गये। संभवनाथ का अभिनिष्क्रमण हुआ और मिगसर शुक्ला पूर्णिमा के दिन एक हजार राजा-राजकुमारों के साथ उन्होंने सहस्राम्रवन में आकर पंच मुष्टि लोच किया और हजारों लोगों की साक्षी में उन्होंने जीवन भर के लिए सावद्य योगों का प्रत्याख्यान किया। दीक्षाव्रत अंगीकार करते ही उन्होंने सप्तम गुणस्थान को प्राप्त किया और उन्हें मनःपर्यवज्ञान की उपलब्धि हुई। इस दिन उन्हें चौविहार बेले का तप था। दूसरे दिन श्रावस्ती नगरी के राजा सुरेन्द्र के यहाँ उनका प्रथम पारणा हुआ।

पांच इन्द्रियों और चार कषायों पर भगवान् संभवनाथ ने नियंत्रण स्थापित कर लिया। दीक्षोपरांत भगवान् ने कठोर साधक जीवन प्रारम्भ कर दिया। चौदह वर्षों तक सघन वनों, गहन कन्दराओं एकान्त गिरि शिखरों पर ध्यान मग्न रहकर मौन साधना में लीन रहे। छद्मावस्था में विचरण करते हुए भगवान् श्रावस्ती नगरी पधारे। घनघाती कर्मों का विनाश कर उन्हें कार्तिक कृष्णा पंचमी को मृगशिर नक्षत्र मे केवलज्ञान, केवलदर्शन की उपलब्धि हुई। भगवान् संभवनाथ सर्वज्ञ हो गए।

देशना एवं तीर्थस्थापना :

वह भोग युग था। भगवान् संभवनाथ ने मानव जाति को भोग-निद्रा से जाग्रत करने का संकल्प किया और लोगों को जीवन की क्षण भंगुरता, सांसारिक सुखोपभोगों की असारता का बोध कराया। उन्होंने यह बोध भी कराया कि विश्व के समस्त आकर्षण मिथ्या हैं। रूप, यौवन, परिवार, धन, सम्पत्ति सब कुछ नश्वर है। भगवान् ने मानव जीवन की सार्थकता का भी बोध कराया। भगवान् ने यह भी स्पष्ट किया कि संसार की जितनी भी भौतिक वस्तुएं हैं, वे सभी क्षणिक हैं। इनके प्रति मोह नहीं रखना चाहिये और परिग्रह से अपने आपको मुक्त रखो। ममता को प्रभावी मत होने दो। आसक्ति से दूर रहो।

भगवान् की देशना का प्रभाव हुआ। असंख्य भटके हुए लोगों को उचित मार्गदर्शन मिला। उनका भ्रम दूर हुआ। मोह भंग हुआ। वास्तविकता को न केवल समझा वरन् आत्मसात भी किया। और हजारों स्त्री-पुरुषों के मन में वैराग्य की तरंगें लहराने लगीं। अनेक भव्य प्राणियों ने मिथ्या जगत का त्यागकर भगवान् के श्री चरणों में संयमव्रत अंगीकार कर लिया। बहुत बड़ी संख्या में गृहस्थ स्त्री-पुरुषों ने श्रावक व्रत ग्रहण किये। इस प्रकार भगवान् ने श्रमण-श्रमणी और श्रावक-श्राविका रूप चतुर्विध संघ तीर्थ की स्थापना की और भाव तीर्थंकर कहलाये।

परिनिर्वाण :

भगवान् संभवनाथ दीर्घकाल तक विचरण कर जीवों का उद्धार करते रहे। फिर अपना निर्वाण समय निकट जानकर भगवान् सम्मेतशिखर पर पधारे और वहाँ एक हजार साधुओं के साथ अनशन ग्रहण कर लिया। शुक्ल ध्यान के अंतिम चरण में पहुंच कर भगवान् संभवनाथ ने परम पद प्राप्त किया। चैत्र शुक्ला पंचमी को मृगशिर नक्षत्र में भगवान् संभवनाथ ने परिनिर्वाण प्राप्त किया।

धर्म-परिवार :

भगवान् संभवनाथ के परिवार का विवरण इस प्रकार है।

गणधर	१०२
केवली	१५,०००
मनःपर्यवज्ञानी	१२,१५०
अवधिज्ञानी	९,६००
चौदह पूर्वधारी	२,१५०
वैक्रियलब्धिधारी	१३,८००
वादी	१२,०००
साधु	२,००,०००
साध्वी	३,३६,०००
श्रावक	२,९३,०००
श्राविका	६,३६,०००

श्री चारु गणधर भगवान् संभवनाथ के प्रमुख शिष्य थे। भगवान् का कुल आयुष्य साठ लाख पूर्व माना जाता है।

□□□

४ भगवान् अभिनन्दन नाथ

कपि

भगवान् संभवनाथ के पश्चात् भगवान् अभिनन्दननाथ चौथे तीर्थंकर हुए।

पूर्वभव :

जम्बूद्वीप में रत्नसंचया नामक एक नगरी थी। वहाँ के राजा का नाम महाबल था। राजा महाबल भौतिक सुख-साधनों के उपभोग के प्रति सदा उदासीन रहता था। किसी भी प्रकार का वैभव अथवा आकर्षण उनको आसक्त नहीं कर सका। अपने पिता द्वारा सौंपे गए उत्तरदायित्व का निर्वहन भी राजा महाबल अनासक्त भाव से करते रहे। राजा महाबल सदैव संयम पथ पर अग्रसर होने के लिए उचित अवसर की प्रतीक्षा करते रहे। उन्हें यह अवसर उस समय मिल गया जब उनके पुत्र शिक्षित होकर शासन संचालन की कला में सर्वथा प्रवीण होकर आ गए। राजा महाबल ने अपने पुत्र को राज्यभार सौंपा और स्वयं आचार्य विमलचन्द्र के चरणों में दीक्षित हो गये। अब वे बंधनमुक्त थे। साधना करने के लिए स्वतंत्र थे। साधना का उनका मार्ग प्रशस्त था। साधना काल में उन्होंने विविध प्रयोग किये और कर्म-निर्जरा करके तीर्थंकर गोत्र कर्म का उपार्जन किया। अंत में देह त्याग कर वे विजय विमान में अनुत्तर देव के रूप में उत्पन्न हुए।

जन्म एवं वंश :

अयोध्या को अनेक तीर्थंकरों की जन्मभूमि होने का गौरव प्राप्त है। उन दिनों अयोध्या नगरी मे राजा संवर राज करते थे। उनकी महारानी का नाम सिद्धार्था था। देवलोक की सैंतीस सागर की अवधि समाप्त होने के पश्चात् महाबल का जीव च्यवकर महारानी सिद्धार्था की कुक्षि में उत्पन्न हुआ। उसी रात्रि में महारानी सिद्धार्था ने चौदह महास्वप्न देखे। उसने अपने पति राजा संवर को जगाकर स्वप्नों का विवरण कह सुनाया। स्वप्न सुनकर राजा संवर हर्षित हुए और कहा, 'निश्चय ही हम सौभाग्यशाली हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि कोई पुण्यात्मा तुम्हारी कुक्षि में अवतरित हुआ है। इससे हमारा वंश भी उज्ज्वल बनेगा।'

प्रातःकाल राजा संवर ने स्वप्नशास्त्रियों को बुलवाया। उनके आने पर उचित आसन प्रदानकर आदर सहित बैठाया और फिर अपनी रानी सिद्धार्था द्वारा देखे गए स्वप्नों का विवरण बताकर उनके फल जानने की अपनी जिज्ञासा प्रकट की। स्वप्न शास्त्रियों ने शास्त्रों तथा अपने अनुभव के आधार पर बताया कि ऐसे स्वप्न तो तीर्थंकर अथवा चक्रवर्ती की माता देखती है। निश्चित ही कोई तीर्थंकर देव महारानी की कुक्षि में अवतरित हुए हैं। महारानी सिद्धार्था ने भी यह सुना। हर्ष से उसका रोम-रोम पुलकित हो उठा। वह सावधानीपूर्वक गर्भ को पालने लगी। गर्भकाल पूर्ण हुआ और माघ शुक्ला द्वितीया को पुष्य नक्षत्र के योग में माता महारानी सिद्धार्था ने सुखपूर्वक पुत्ररत्न को जन्म दिया।

चारों ओर हर्ष और उमंग की लहर व्याप्त हो गई। सुख और शांति की लहरें छा गईं। देवों और देवपतियों ने आपका जन्मोत्सव मनाया। समूचे अयोध्या राज्य में भी राजकुमार का जन्मोत्सव धूमधाम से मनाया गया। राजा संवर ने भी पुत्ररत्न का जन्मोत्सव समारोहपूर्वक मनाया। याचकों को मनोवांछित दान दिया गया। बन्दीगृह से बन्दियों को मुक्त किया गया।

नामकरण :

बारहवें दिन नामकरण महोत्सव का आयोजन बृहत् स्तर पर किया गया। परिवार के सदस्य ही नहीं, अयोध्या के लब्ध-प्रतिष्ठित महानुभावों को भी इसमें आमंत्रित किया गया। सभी अपने-अपने हिसाब से अपनी-अपनी प्रसन्नता प्रकट कर रहे थे। नामकरण का प्रसंग उपस्थित होने पर राजा संवर ने बताया, "जब से यह बालक अपनी माता के गर्भ में आया तब से राज्य में जितना आनन्द रहा, उतना आनन्द मैंने अपने शासनकाल में पहले कभी नहीं देखा। अपराधों में स्वाभाविक रूप से कमी आई। पारस्परिक कलह के प्रकरण तो इस अवधि में सामने आए ही नहीं। परस्पर प्रेम एवं सौहार्द का अनुपम उदाहरण देखने को मिला। गुप्तचरों की सूचना के अनुसार मैंने चारों ओर आनंद ही आनंद पाया। इसलिये मेरे मतानुसार ऐसे आनंदकारी नंदन का नाम "अभिनन्दन" रखना उचित प्रतीत होता है।" वहाँ जितने भी व्यक्ति उपस्थित थे, सबको राजा संवर का प्रस्ताव पसंद आया और बालक का नाम "अभिनन्दन कुमार" रखा गया।

गृहस्थ-जीवन और राज्य :

चन्द्रमा की कला की भांति अभिनंदन कुमार वृद्धिगत होते गए और यथासमय यौवनावस्था में प्रवेश किया। युवा होने पर राजा संवर ने योग्य सुन्दर एवं सुशील राजकन्याओं के साथ अपने पुत्र का विवाह किया। कुछ

समयोपरांत राजा संवर ने अपने राज्य का भार अपने पुत्र अभिनन्दन को सौंपा और संयमव्रत अंगीकार कर आत्मसाधना में लीन हो गये।

अभिनन्दन कुमार राजा तो हो गये किंतु इस सम्मानपूर्ण पद को पाकर भी हर्षातिरेक में वे विचलित नहीं हुए। इससे यह प्रमाणित होता है कि महापुरुष विकार के हेतुओं में रहते हुए भी विकृत नहीं होते हैं।

दीक्षा एवं केवलज्ञान :

राजा अभिनन्दन ने छत्तीस लाख पूर्व वर्षों तक राज किया। उनके राज में प्रजा सभी प्रकार से सुखी थी। चारों ओर सुख-शांति का साम्राज्य था। भोगावली कर्मों की समाप्ति पर राजा अभिनन्दन ने संयम मार्ग पर चलने की अपनी भावना अभिव्यक्त की। उन्होंने अपने लक्षाधिकारी को राज्य सौंपा और वर्षीदान देने लगे। उनके वैराग्य से अनेक राजा और राजकुमारों ने भी प्रेरणा ग्रहण की। वे भी उनके साथ ही दीक्षाव्रत अंगीकार करने के लिए उद्यत हुए। माघ शुक्ला द्वादशी को अभीचि-अभिजित नक्षत्र के योग में एक हजार राजाओं के साथ उन्होंने समस्त पापकर्मों का त्याग किया और पंचमुष्टि लोच कर सिद्ध की साक्षी से संयम स्वीकार किया। वे मुनि बन गए। उस समय आपको बेले की तपस्या थी।

दूसरे दिन भगवान् साकेतपुर पधारे। वहाँ के राजा इन्द्रदत्त के यहाँ भगवान् का प्रथम पारणा हुआ। उस समय देवों ने पंच दिव्य प्रकट कर "अहो दानं अहोदानं" का दिव्य घोष किया। दीक्षोपरांत वर्षों तक भगवान् उग्र तपस्या करते रहे। ग्रामानुग्राम विचरण भी करते रहे। भगवान् छद्मस्थावस्था में अठारह वर्ष तक विचरण करते रहे। विहार काल में भगवान् का अयोध्या पदार्पण हुआ। यहाँ शुक्लध्यान की प्रबल अग्नि में ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोह और अन्तराय रूप कर्म के ईंधनों को जलाकर घाति कर्मों का क्षय किया। पौष शुक्ला चतुर्दशी को घातिक कर्मों की निर्जरा हुई और अभिजित नक्षत्र में भगवान् को केवलज्ञान की उपलब्धि हुई, वे सर्वज्ञ बन गए

देशना और तीर्थस्थापना :

केवलज्ञान और केवलदर्शन की प्राप्ति के पश्चात् सर्वज्ञ भगवान् ने देव और मनुष्यों की धर्मसभा में धर्मदेशना दी। भगवान् ने वहाँ उपस्थित सभी को धर्म और अधर्म का भेद समझाते हुए कल्याण का मार्ग बताया। जब भगवान् ने धर्म के गूढ़ मर्म को प्रकट कर कल्याण का मार्ग बताया तो अनेक भव्य प्राणियों को विरक्ति हो गई और उन्होंने संयम मार्ग अपनाया। अनेक लोगों ने श्रावक के व्रत ग्रहण किये। इस प्रकार भगवान् ने धर्मतीर्थ की स्थापना

की और भाव तीर्थंकर कहलाये। भगवान् अभिनन्दननाथ की देशना अति महत्वपूर्ण मानी गई है।

परिनिर्वाण :

भगवान् अभिनन्दननाथ दीर्घकाल तक विचरण कर धर्मदेशना देते हुए प्राणियों का मार्गदर्शन करते रहे। अपना अंत समय निकट जानकर भगवान् सम्मेतशिखर पधारे और अनशन ग्रहण कर लिया। एक मास के अनशन के पश्चात् समस्त कर्मों का क्षय करके भगवान् सिद्ध बुद्ध मुक्त हो गए। इस समय उनके साथ एक हजार मुनि थे। वैशाख शुक्ला अष्टमी को पुष्य नक्षत्र के योग में भगवान् का परिनिर्वाण हुआ। भगवान् ने पचास लाख पूर्व वर्षों का आयुष्य पूर्ण किया था।

धर्म-परिवार :

भगवान् अभिनन्दननाथ के धर्मपरिवार का विवरण इस प्रकार है :—

गणधर	११६
केवली	१४,०००
मनःपर्यवज्ञानी	११,६५०
अवधिज्ञानी	९,८००
चौदह पूर्वधारी	१,५००
वैक्रियलब्धिधारी	१९,०००
वादी	११,०००
साधु	३,००,०००
साध्वी	६,३०,०००
श्रावक	२,८८,०००
श्राविका	५,२७,०००

□□□

क्रौंच पक्षी

५ भगवान् सुमतिनाथ

चौथे तीर्थंकर भगवान् अभिनन्दन नाथ के पश्चात् भगवान् सुमतिनाथ पांचवें तीर्थंकर हुए।

पूर्वभव :

जम्बूद्वीप के पुष्कलावती विजय में शंखपुर नामक एक सुन्दर एवं समृद्ध नगर था। विजयसेन नामक राजा यहां का राजा था और सुदर्शना नामक उसकी महारानी थी, जो अपने नाम के अनुरूप ही रूप-यौवन से सम्पन्न थी। राजा थे, राज्य था, तो सभी प्रकार के भौतिक सुख एवं सुखोपभोग की सामग्रियों का विपुल भण्डार उनके यहाँ था। किसी प्रकार की कहीं कोई कमी नहीं थी। यदि कहीं कोई कमी थी तो वह संतान की थी। राज्य की प्रजा भी न्यायप्रिय एवं प्रजावत्सल राजा को पाकर सभी प्रकार से सुखी एवं संतुष्ट थी। संतान के नहीं होने से महारानी सुदर्शना सदैव चिंतित रहती थी।

एक बार का प्रसंग है कि नगर में वसंतोत्सव मनाया जा रहा था। सभी नर-नारी बालवृन्दादि उद्यान में एकत्र होकर आमोद-प्रमोद में निमग्न थे। राजा और रानी एक विशेष भवन से वसन्तोत्सव का दृश्य देख रहे थे। रानी सुदर्शना भी क्रीड़ारत जन-समुदाय को देख-देखकर प्रसन्न हो रही थी कि तभी उसने देखा कि एक रूपवती प्रौढ़ा उच्चासन पर बैठी है और उसकी आठ पुत्र-वधुएं उसकी सेवा कर रही हैं। पूछताछ करने पर ज्ञात हुआ कि यह श्रेष्ठी नन्दीषेण की धर्मपत्नी और पुत्रवधुएं हैं। इस दृश्य से महारानी सुदर्शना की सुसुप्त भावना जागृत हो गई और उसका हृदय कुंठाग्रस्त हो गया, वह हताश-निराश मन से राजभवन लौट आई। राजा विजयसेन ने रानी से प्रेमपूर्वक इसका कारण पूछा। रानी ने अपने मन की पीड़ा अपने पति राजा विजयसेन से कह सुनाई। राजा स्वयं भी तो इसी कारण दुःखी था। उसने अपनी ओर से पहले ही बहुत कुछ किया किंतु फिर भी उसे संतान सुख नहीं मिला था। उसने रानी को आश्वस्त करते हुए कहा कि इस सम्बन्ध में वह पुनः सार्थक प्रयास करेगा। राजा ने बेले की तपस्या के साथ कुलदेवी की आराधना की। इसका सुखद परिणाम भी सामने आया। कुलदेवी के आशीर्वाद से रानी के गर्भ में कोई

भव्य प्राणी आया। गर्भ के लक्षण प्रकट हुए और गर्भकाल पूर्ण होने पर रानी सुदर्शना ने सुन्दर एवं तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया। बालक जब गर्भ में आया था तब माता ने स्वप्न में सिंह देखा था। इस कारण बालक का नाम पुरुषसिंह रखा गया। यथासमय पुरुषसिंह युवा हुआ और उसका रूप यौवन खिल उठा। उसका पराक्रम प्रकट हुआ। उसने अनेक युद्ध लड़े और शत्रुओं का मानमर्दन कर दिया।

किसी समय पुरुषसिंह भ्रमण के लिए निकला और एक उद्यान में उसे विजयनंदन आचार्य के दर्शन हुए। आचार्य के दर्शन होते ही उसके मन में जिज्ञासा उत्पन्न हुई और उसके समाधान के लिए वह आचार्यश्री के निकट जा पहुंचा। उसने धर्म, तप आदि के विषय में जानने की अपनी जिज्ञासा प्रकट की साथ ही उसने संसार-सागर से पार उतरने के लिए उपाय भी जानना चाहा। आचार्यश्री ने धर्म-तप आदि की विस्तार से व्याख्या प्रस्तुत की। धर्म के तत्त्व बोध से राजकुमार पुरुषसिंह विरक्त हो गया। उसके सुसुप्त संस्कार जाग्रत हो गये, उसने आचार्यश्री की शरण में संयमव्रत अंगीकार करने की अपनी भावना व्यक्त की। दीक्षाव्रत अंगीकार करने के लिए माता-पिता की अनुमति अनिवार्य होती है। राजकुमार पुरुषसिंह ने अपनी भावना अपने माता-पिता के समक्ष प्रकट करते हुए उनकी अनुमति चाही। माता-पिता अपने पुत्र की बात सुनकर हतप्रभ रह गए। माता-पिता का स्नेह एवं ममता उसे अपने निश्चय से विचलित नहीं कर सके। अंततः अनुमति मिली और उसने संयमव्रत ग्रहण कर मुनिजीवन ग्रहण किया। संयम-काल में मुनि पुरुषसिंह ने कर्म-निर्जरा के बीस स्थानकों की विशेष साधना कर तीर्थंकर नाम-कर्म गोत्र का उपार्जन किया। फिर अपना आयुष्य पूर्ण कर देह त्यागकर वैजयन्त नामक अनुत्तर विमान में ऋद्धिशाली देव के रूप में उत्पन्न हुआ।

जन्म एवं वंश :

ऋद्धिशाली देव की वैजयन्त विमान की स्थिति समाप्त हो रही थी। उस समय अयोध्या में महाराजा मेघ का राज था। उनकी धर्मपरायणा, पतिपरायणा, धर्म पत्नी का नाम सुमंगला था। वैजयन्त विमान से च्यव कर पुरुषसिंह का जीव महारानी सुमंगला की कुक्षि में उत्पन्न हुआ। उसी रात्रि में महारानी सुमंगला ने चौदह महास्वप्न देखे। राजा मेघ को स्वप्नों का विवरण कह सुनाया। राजा-रानी दोनों हर्षित हुए। प्रातःकाल स्वप्नशास्त्रियों से इन महा स्वप्नों का फल पूछा। कोई तीर्थंकर का जीव महारानी की कुक्षि में उत्पन्न हुआ है, यह जानकर राजमहल में हर्षोल्लास छा गया। गर्भकाल पूर्ण होने पर वैशाख

शुक्ला अष्टमी की मध्यरात्रि में महारानी सुमंगला ने सुखपूर्वक पुत्र को जन्म दिया। जन्म के समय मघा नक्षत्र का योग था। चौंसठ इन्द्रों ने मिलकर जन्मोत्सव मनाया। राजा प्रजा सभी ने राजकुमार का जन्मोत्सव समारोहपूर्वक धूमधाम से मनाया। महाराज मेघ ने याचकों को मनोवांछित दान देकर संतुष्ट किया और बन्दियों को मुक्त किया।

नामकरण :

सुमति इस नाम को रखने में भी एक रहस्य है। महाराज मेघ ने अपने परिजनों एवं प्रतिष्ठित महानुभावों को बताया कि जब बालक माता के गर्भ में आया तब इसकी माता ने विषम से विषम, जटिल से जटिल समस्या को भी सरलता से सुलझा दिया था। इस कारण बालक का नाम सुमति रखा जाना उचित लगता है। सबने अपनी सहमति व्यक्त करते हुए एकाध दृष्टांत जानने की जिज्ञासा प्रकट की। तब महाराज मेघ ने निम्नांकित घटना का विवरण सबके सामने प्रस्तुत किया :

एक सेठ था। उसके दो पत्नियां थी। एक पत्नी से उसके एक पुत्र था और दूसरी पत्नी निःसंतान थी। दोनों का स्नेह पुत्र के प्रति समान था। किसी प्रकार का कोई विवाद नहीं था। सेठ व्यापार के लिए देशान्तर गया हुआ था और वहीं उसकी मृत्यु हो गई। जब यह समाचार उसकी दोनों पत्नियों ने सुना तो वे शोक ग्रस्त हो गई। पुत्र पर तो दोनों का समान लाड़-दुलार था। विमाता का तो कुछ विशेष ही था। बालक दोनों माताओं को समान ही मानता था। उसका मानस तो निर्मल और निश्छल था। वह माता और विमाता में भेदभाव करना नहीं जानता था।

सेठ की मृत्यु के उपरांत विमाता ने पुत्र और उसकी सम्पत्ति दोनों पर अपना अधिकार स्थापित करना चाहा। पुत्र की माता यह कैसे सहन करती। दोनों में विवाद हुआ और बढ़ते-बढ़ते विवाद राजसभा में आ गया। राजा मेघ इस विचित्र विवाद का समाधान नहीं कर सके, तब महारानी सुमंगला ने इस विवाद का निर्णय करने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लिया। अपने निर्णयानुसार महारानी सुमंगला ने सेठ की दोनों पत्नियों को और पुत्र को अपने पास बुलाया। उनके आने पर उसने उन दोनों का पक्ष सुना। उनका पक्ष सुनने के पश्चात् उसने कहा, "इस समय मेरे गर्भ में तीन ज्ञान का धारक अतिशय पुण्यवान प्राणी है। आप उसके जन्म होने तक अपने पुत्र को मेरे पास छोड़ जाओ।" इस अवधि में आपके पुत्र के पालन-पोषण का उत्तरदायित्व मेरा रहेगा। आप किसी भी प्रकार की चिंता न करें।

महारानी की बात सुनकर विमाता ने तो अपनी सहमति अभिव्यक्त कर दी किंतु उस बालक की जननी अपने पुत्र के वियोग के दुःख की कल्पना से चीख उठी—मुझे आपकी शर्त स्वीकार नहीं है। मैं अपने पुत्र को इतने समय तक अपने आपसे अलग नहीं रख सकती। मैं अपने प्राण त्याग सकती हूँ किन्तु प्राण प्यारे पुत्र का त्याग मेरे लिए सम्भव नहीं है।

महारानी सुमंगला ने दोनों की बातों से जान लिया कि पुत्र की वास्तविक माता कौन है? कोई भी माता अपने पुत्र को अपने से अलग रखना स्वीकार नहीं करती। महारानी ने सेठ की सम्पत्ति और पुत्र उसकी वास्तविक अधिकारिणी को दिलवाने का निर्णय दिया। प्रकारान्तर से यह विवरण भी मिलता है कि महारानी ने दोनों माताओं के विवाद को देखकर पुत्र के दो टुकड़े कर दोनों में बांटने का निर्णय दिया था। इससे विमाता तो सहमत हो गई थी किन्तु माता चीत्कार कर उठी थी और कहा था कि वह पुत्र उसका नहीं है। इससे महारानी ने पुत्र की जननी की पहचान करली थी। क्योंकि कोई भी माता अपने सामने अपने पुत्र की हत्या होते देख नहीं सकती। वह इसी में संतुष्ट रहती कि पुत्र भले ही उसे न मिले पर जीवित तो है। महारानी के बुद्धि कौशल से इस समस्या का समाधान हो पाया था।

इस दृष्टांत को सुनकर सभी उपस्थित जनों ने एक स्वर में बालक का नाम सुमति रखने का समर्थन किया। इस प्रकार बालक का नाम सुमति रखा गया।

गृहस्थ-जीवन एवं राज्य :

यौवनावस्था में प्रवेश होने पर महाराज मेघ ने राजकुमार सुमति का रूप-यौवन सम्पन्न राजकुमारियों से पाणिग्रहण करवाया। फिर उचित अवसर पर महाराज मेघ ने राजकुमार सुमति का राज्याभिषेक किया और स्वयं दीक्षित होकर साधना में लीन हो गए। महाराज सुमति के शासनकाल में राज्य में चहुंमुखी उन्नति हुई, प्रजा सुखी रही। वह अपने राजा के प्रति गहरी आस्था प्रकट करने लगी। राजा का आदेश श्रद्धापूर्वक स्वीकार किया जाता था। पूरे राज्य में सारी व्यवस्था सुचारु रूप से चल रही थी। तभी भोगावली कर्म क्षीण हुए और राजा सुमति विरक्त हो गए।

दीक्षा और केवलज्ञान :

लोकांतिक देवों की प्रार्थना से वर्षीदान देकर एक हजार राजाओं के साथ सुमतिनाथ ने दीक्षार्थ अभिनिष्क्रमण किया। वैशाख शुक्ला नवमी के दिन मघा नक्षत्र में सिद्धों को नमस्कार कर भगवान् सुमतिनाथ ने पंचमुष्टिक लोच

किया और सर्व सावद्य पापकर्मों का त्यागकर मुनि बन गए। उस दिन आप षष्ठ भक्त/दो दिन के निर्जल तप में थे। भगवान् सुमतिनाथ का प्रथम पारणा विजयपुर के राजा पद्म के यहाँ हुआ। बीस वर्ष तक भगवान् कठोर साधना में लीन रहे। उनकी साधना उत्तरोत्तर उत्कर्ष को प्राप्त होती रही। इस बीस वर्ष की दीर्घावधि में भगवान् छद्मस्थ अवस्था में रहे। धर्मध्यान व शुक्लध्यान में भगवान् ने कर्म निर्जरा की और सहस्राम्रवन में चारघाती कर्मों का क्षय कर चैत्र शुक्ला एकादशी को मघा नक्षत्र में उन्हें केवलज्ञान-केवलदर्शन की उपलब्धि हुई। भगवान् सर्वज्ञ हो गए।

केवलज्ञान की उपलब्धि के पश्चात् समवसरण मे विराजकर भगवान् ने मोक्ष मार्ग का उपदेश दिया और चतुर्विध संघ की स्थापना कर भाव तीर्थंकर कहलाये।

परिनिर्वाण :

अपना अंत समय निकट जानकर भगवान् सुमतिनाथ एक हजार साधुओं के साथ सम्मेतशिखर पधारे और एक मास का अनशन किया तथा चैत्र शुक्ला नवमी को पुनर्वसु नक्षत्र में चार अघाति-कर्मों का क्षय कर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो गए। निर्वाण पद को प्राप्त हो गए।

धर्म-परिवार :

भगवान् सुमतिनाथ का धर्मपरिवार इस प्रकार था—

गणधर	१००
केवली	११,०००
मनःपर्यवज्ञानी	१०,४५०
अवधिज्ञानी	११,०००
वैक्रियलब्धिधारी	१८,४००
चतुर्दश पूर्वी	२,४००
वादी	१०,४५०
साधु	३,२०,०००
साध्वी	५,३०,०००
श्रावक	२,८१,०००
श्राविका	५,१६,०००

□□□

६ भगवान् पद्मप्रभ

पद्म कमल

भगवान् सुमतिनाथ के पश्चात् भगवान् पद्मप्रभ छठे तीर्थंकर हुए। यह उनकी भव-भवों की साधना का ही परिणाम था कि वे इस महान पद पर प्रतिष्ठित हुए।

पूर्वभव :

प्राचीन काल में महाराज अपराजित सुसीमा नामक नगरी के राजा थे। वे न्यायप्रिय एवं प्रजावत्सल तो थे ही, साथ ही धर्म के प्रति दृढ़ आस्थावान भी थे। धर्म उनके आचरण में कुछ इस प्रकार समाविष्ट हो गया था कि वे धर्म के पर्याय ही समझे जाने लगे थे। सभी प्रकार के सुखोपभोग उपलब्ध होते हुए भी वे उनके प्रति उदासी बने रहते। तरुणावस्था के उन्माद का उनमें सर्वथा अभाव था। शासन संचालन का कार्य वे कर्त्तव्य का निर्वाह मानकर कर रहे थे। राजसी सुख और राजमहल के प्रति उनके मन में कोई रुचि नहीं थी, कोई आसक्ति नहीं थी, लगाव नहीं था। सब कुछ पाकर भी वे उसमें कमलवत् निवास कर रहे थे। इन सब भौतिक पदार्थों/सुविधाओं को वे अस्थिर मानते थे। वे तो शाश्वत सुख चाहते थे। कई बार उनका मन करता कि इन सबका त्याग कर यहाँ से चल देना चाहिये। इसके लिए उन्हें अवसर मिला और सब कुछ तृणवत् त्यागकर पिहिताश्रव मुनि के चरणों में समर्पित हो गए। मुनि श्री के आशीर्वाद से संयम मार्ग मिला और साधना में लीन हो गए। उन्होंने अर्हद्भक्ति आदि स्थानों की आराधना कर तीर्थंकर नाम कर्म का उपार्जन किया। अपनी आयुष्य की समाप्ति पर अनशनपूर्वक देह का त्यागकर परमस्थिति वाले ग्रैवेयक देव बने।

जन्म एवं वंश :

कौशाम्बी में महाराज धर का राज था। उनकी रानी का नाम सुसीमा था। पुण्यशाली अपराजित के जीव की देवभव की आयुष्य पूर्ण हुई और वह च्यवकर महारानी सुसीमा की कुक्षि में उत्पन्न हुआ। यह दिन था माघ कृष्णा षष्ठी और नक्षत्र था चित्रा। उसी रात्रि में महारानी सुसीमा ने चौदह महास्वप्न देखे। महारानी ने स्वप्नों की चर्चा महाराज धर से की। इन शुभ स्वप्नों के प्रभाव से दोनों ही आनंद विभोर हो गये थे। प्रातःकाल स्वप्नशास्त्रियों को बुलाकर इन स्वप्नों का परिणाम जानने की जिज्ञासा प्रकट की। स्वप्नशास्त्रियों

ने अपने अनुभव और शास्त्रों के आधार पर बताया कि ऐसे महा स्वप्न देखने वाली माता के गर्भ से तीर्थंकर अथवा चक्रवर्ती का जन्म होता है। ऐसा सुनते ही राजा-रानी का हर्ष असीम हो गया।

माता ने सावधानी रखते हुए गर्भ की पालना की और गर्भकाल पूर्ण होने पर कार्तिक कृष्णा द्वादशी के शुभ दिन चित्रा नक्षत्र में माता ने सुखपूर्वक पुत्ररत्न को जन्म दिया। जन्म के प्रभाव से लोक में सर्वत्र शांति और हर्ष व्याप्त हो गया। बालक तेजोमय एवं कमल (पद्म) की प्रभा के समान शारीरिक कांति वाला था। पहले देवों ने और फिर राजा तथा प्रजा ने पुत्र का जन्मोत्सव धूमधाम से मनाया।

नामकरण :

नामकरण का अवसर उपस्थित हुआ। एक तो बालक पद्म (कमल) की कांति वाला था। दूसरे ऐसा कहा जाता है कि बालक के शरीर से स्वेदगंध के स्थान पर कमल की सुगंध प्रसरित होती थी। तीसरे जब बालक माता के गर्भ में था तब माता को कमल पुष्पों की शैय्या पर सोने का दोहद उत्पन्न हुआ था। इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए बालक का नाम पद्मप्रभ रखा गया।

गृहस्थ-जीवन एवं राज्य :

समय के प्रवाह के साथ बालक चन्द्र की भांति निरन्तर वृद्धिगत होता गया। राजकुमार पद्मप्रभ ने युवा अवस्था में प्रवेश किया और युवा होते ही पिता राजा धर ने योग्य, रूपवती राजकुमारियों के साथ उनका पाणिग्रहण करवाया। फिर कुछ कालोपरांत वैराग्यभाव जागृत होने पर राजा धर ने राजकुमार पद्मप्रभ का राज्याभिषेक कर राज्य भार सौंप दिया और स्वयं संयम व्रत अंगीकार कर साधना में लीन हो गये।

महाराज पद्मप्रभ के शासन काल में उनकी प्रजा सब प्रकार से सुखी थी। राज्य में चारों ओर शांति थी। प्रजा में अपने राजा के प्रति विशेष आदर एवं श्रद्धा भाव था। महाराज पद्मप्रभ निर्लिप्त भाव से राज्य का संचालन कर रहे थे। उनमें किसी भी प्रकार का उन्माद नहीं था, वे बिना विश्राम किए निरन्तर प्रजाहित के कार्य एवं चिंतन किया करते थे। वे अपनी प्रजा के पारिवारिक मुखिया बन गये थे।

दीक्षा एवं केवलज्ञान :

भोगावली कर्म समाप्त होने पर भगवान् के हृदय में वैराग्य के भाव तरंगित होने लगे। तब लोकांतिक देवों ने धर्मप्रवर्तन के लिए प्रार्थना की। वर्षीदान देकर भगवान् संयम के लिए उद्यत हुए। कार्तिक कृष्णा त्रयोदशी के दिन षष्ठभक्त (दो दिन का निर्जल तप) के साथ एक हजार अन्य भव्य पुरुषों

के साथ राजा पद्मप्रभ ने दीक्षाव्रत अंगीकार किया। ब्रह्मस्वरूप के राजा सोमदेव के यहाँ भगवान् का पारणा हुआ तब देवों ने अहो दानम् का उद्घोष किया।

दीक्षाव्रत अंगीकार करने के पश्चात् भगवान् पद्मप्रभ साधना में लीन हो गए। भगवान् छः माह तक उग्र तपस्या करते हुए छद्मस्थावस्था में विचरण करते रहे और फिर विहार क्रम से सहस्राम्रवन में पधारे। मोह कर्म की निर्जरा हो चुकी थी। शेष कर्मों की निर्जरा के लिए भगवान् षष्ठभक्त तप के साथ वट वृक्ष के नीचे कायोत्सर्ग मुद्रा में ध्यानावस्थित हो गए। शुक्लध्यान से घाति कर्मों का क्षय कर चैत्र शुक्ला पूर्णिमा को चित्रा नक्षत्र में भगवान् ने केवलज्ञान प्राप्त किया।

केवलज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् भव्य प्राणियों को धर्मदेशना प्रदान कर चतुर्विध संघ की स्थापना की और अनन्त चतुष्टय धारण कर भगवान् लोकालोक के ज्ञाता, द्रष्टा, उपदेष्टा और भाव तीर्थंकर हो गये।

परिनिर्वाण :

वर्षों तक भगवान् जन-जन को सन्मार्ग की शिक्षा देते रहे। अपने उपदेशों से भगवान् ने अनेक भव्य प्राणियों का कल्याण किया। फिर अपना अंत समय निकट जानकर भगवान् एक सौ तीन मुनियों के साथ सम्मेतशिखर पर पधारे और वहां एक मास के अनशन के साथ चार अघाति कर्मों का क्षय कर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो गए।

धर्म परिवार :

भगवान् पद्मपभ का धर्म परिवार इस प्रकार था—

गणधर	१०७
केवलज्ञानी	१२,०००
मनःपर्यवज्ञानी	१०,३००
अवधिज्ञानी	१०,०००
वैक्रियलब्धिधारी	१६,८००
चतुर्दशपूर्वी	२,३००
वादी	९,६००
साधु	३,३०,०००
साध्वी	४,२०,०००
श्रावक	२,७६,०००
श्राविका	५,०५,०००

□□□

स्वस्तिक

७ भगवान् सुपार्श्वनाथ

भगवान् पद्मप्रभ के पश्चात् भगवान् सुपार्श्वनाथ सातवें तीर्थंकर हुए। दोनों के मध्य दीर्घ अंतराल है।

पूर्वभव :

प्राचीन काल में क्षेमपुरी नामक नगरी थी। इस नगरी के राजा नन्दिसेन एक अत्यन्त योग्य शासक थे। अपना कर्त्तव्य समझकर वे राज काज सम्हाल रहे थे। अन्यथा वे तो पूर्णतः आत्मार्थी थे। यही कारण था कि वे सदैव आत्महित की साधना में लगे रहते थे। असीम भोग सामग्री पाकर भी वे अनासक्त थे, निर्लिप्त थे। वे सदैव शासन कार्य से छुटकारा प्राप्त करने का ही विचार किया करते थे और जब उनका उत्तराधिकारी योग्य हो गया, शासन सत्ता सम्हालने में सक्षम हो गया तो बिना किसी विलम्ब के उन्होंने उसे सत्ता सौंप दी और आचार्य अरिदमन की सेवा में पहुंच कर मुनिधर्म स्वीकार कर लिया। दीक्षाव्रत अंगीकार करने के पश्चात् उन्होंने घोरतप एवं कठोर साधना के विशिष्ट बीस स्थानों की विशेष साधना की। इस प्रकार अपूर्व कर्म-निर्जरा करके उन्होंने तीर्थंकर गोत्र का उपार्जन किया। आयुष्य की समाप्ति पर देह का त्याग कर कालधर्म को प्राप्त हुए और अहमिन्द्र के रूप में छठे ग्रैवेयक में देव रूप में उत्पन्न हुए।

जन्म एवं वंश :

सुप्रसिद्ध वाराणसी नगरी में राजा प्रतिष्ठसेन राज करता था। उसकी रानी का नाम पृथ्वीदेवी था। नन्दिसेन का जीव छठे ग्रैवेयक में अपनी आयुष्य पूर्ण कर वहां से निकला और भाद्रपद कृष्णा अष्टमी के दिन विशाखा नक्षत्र में रानी पृथ्वी देवी की कुक्षि में उत्पन्न हुआ। उसी रात्रि में रानी पृथ्वी देवी ने चौदह महामंगलकारी स्वप्न देखे। इससे राजा-रानी प्रफुल्लित हो गए। राजमहल में भी हर्षोल्लास छा गया। जब रानी के गर्भवती होने की बात प्रचारित/प्रसारित हुई तो प्रजा भी हर्षित हो उठी।

रानी पृथ्वी देवी सावधानी से गर्भ की पालना करने लगीं। गर्भकाल पूरा हुआ और ज्येष्ठ शुक्ला द्वादशी को विशाखा नक्षत्र में मध्यरात्रि में माता रानी पृथ्वी देवी ने सुखपूर्वक पुत्ररत्न को जन्म दिया। राजकुमार के जन्म से चारों ओर हर्ष एवं उमंग व्याप्त हो गया। पुत्र का जन्मोत्सव धूमधाम से मनाया गया। याचकों को मनोवांछित दान दिया गया और बन्दीगृहों से बन्दियों को मुक्त किया गया।

नामकरण :

जन्मोत्सव सम्पन्न होने पर बारहवें दिन नामकरण पर विचार विमर्श हुआ। इस अवसर पर राजा प्रतिष्ठसेन ने बताया कि जिस समय बालक अपनी माता के गर्भ में था, उस समय उसकी माता के दोनों पार्श्व अति सुन्दर लगते थे। सामान्यत: गर्भावस्था में नारी का कटि प्रदेश कुछ अभद्र दिखाई देने लगता है किन्तु इस बालक के गर्भ में रहते हुए इसके ठीक विपरीत इसकी माता का कटिप्रदेश पहले से भी सुन्दर दिखाई देता था। इसलिये मेरे विचार से बालक का नाम सुपार्श्व रखा जाना उचित रहेगा। इस समय वहां उपस्थित सभी परिजनों एवं मित्रों ने राजा प्रतिष्ठसेन के प्रस्ताव का अनुमोदन किया और इस प्रकार बालक का नाम सुपार्श्व रखा गया।

गृहस्था-जीवन एवं राज्य :

सुपार्श्व कुमार ने बाल्यावास्था से किशोरावस्था में होते हुए तरुणावस्था में प्रवेश किया। राजा प्रतिष्ठसेन ने उनका विवाह सुन्दर एवं युवा राजकुमारियों के साथ किया। फिर उचित अवसर जानकर राजा प्रतिष्ठसेन ने राजकुमार सुपार्श्व का राज्याभिषेक किया और स्वयं इंद्रिय गुप्त अणगार के चरणों में पहुँच-कर संयम व्रत अंगीकार कर साधना में लीन हो गए।

राज्य-प्राप्ति के पश्चात् भी राजा सुपार्श्व अनासक्त बने रहे। सुखोपभोग एवं सत्ता के प्रति उनके हृदय में कोई रुचि नहीं थी। वे जो कुछ भी कर रहे थे, सब कुछ अनासक्त भाव से अपना कर्तव्य समझ कर रहे थे। उनके शासनकाल में अपराध समाप्त हो चुके थे। लोग आपसी वैमनस्य भूल गए थे। सबके मन में बंधुत्व की भावना समा गई थी। राज्य में एकता की स्थिति तो यह थी कि समूचे राज्य में पारिवारिक भावना जागृत हो गई थी। सब एक परिवार की भांति रहने लगे थे। इस प्रकार राजा सुपार्श्व के राज में प्रजा पूर्ण रूप से सुखी थी, राज्य में चारों ओर शांति का साम्राज्य था।

दीक्षा और केवलज्ञान :

राजा सुपार्श्व अनासक्त तो थे ही, यही कारण रहा कि उनके अन्तर्मन में विरक्ति के भाव पल्लवित होने लगे। उनका वैराग्य परिपक्व हुआ और उधर उनके भोगावली कर्म भी समाप्त हो गए। परिणामस्वरूप लोकान्तिक देवों की विनती पर उन्होंने वर्षीदान देना शुरू कर दिया। इसके पूर्व उन्होंने अपने उत्तराधिकारी को अपने राज्य का भार सौंप दिया था। वर्षीदान देने के पश्चात् आपने ज्येष्ठ शुक्ला त्रयोदशी को एक हजार राजाओं के साथ दीक्षार्थ अभिनिष्क्रमण किया। षष्ठम तपस्या के साथ उद्यान में पहुंचे और वहां पंच मुष्टि लोच करके सर्वथा पापों का त्यागकर दीक्षाव्रत अंगीकार कर लिया। आपके साथ एक हजार अन्य राजाओं ने भी संयमव्रत ग्रहण किया। दूसरे दिन पाटलिखण्ड के प्रधान नायक महाराज महेन्द्र के यहां भगवान् का पारणा हुआ।

दीक्षाव्रत अंगीकार करने के तत्काल बाद भगवान् ने मौनव्रत धारण कर लिया। भगवान् कठोर तप शुरू करते हुए ग्रामानुग्राम विचरण करते रहे। भगवान् सुपार्श्वनाथ नौ माह तक छद्मस्थावस्था में रहे। इस अवधि में भगवान् ने विविध प्रकार की तपस्याओं तथा ध्यान-साधना से कर्म निर्जरा की। ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए फिर भगवान् सहस्राम्र उद्यान में पधारे। यहां शिरीष वृक्ष की छाया में भगवान् कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़े होकर शुक्लध्यान में लीन थे तभी चार घातीकर्मों की निर्जरा हो गई और भगवान् सुपार्श्वनाथ को केवलज्ञान, केवलदर्शन हो गया, वे सर्वज्ञ हो गए। यह शुभ दिन था फाल्गुन शुक्ला षष्ठी और नक्षत्र था विशाखा।

केवलज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् भगवान् सुपार्श्वनाथ ने मानव-शरीर की नश्वरता पर अपनी प्रथम देशना दी। जिसके प्रभाव से अनेक भव्य प्राणियों ने संयमव्रत ग्रहण किया और अनेक व्यक्तियों ने श्रावक धर्म अंगीकार किया। इस प्रकार भगवान् ने चतुर्विध तीर्थ की स्थापना की और भाव अरिहन्त पद प्राप्त किया।

परिनिर्वाण :

भगवान् सुपार्श्वनाथ ने अपनी देशना से अध्यात्म का अद्भुत आलोक फैलाया। उन्होंने अपनी आयुष्य के बीस लाख पूर्व वर्ष पूर्ण किये। अंतिम समय निकट जानकर भगवान् पांच सौ मुनियों के साथ सम्मेतशिखर पर पधारे, जहां एक मास के अनशन से समस्त कर्मों का क्षय कर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो गए। उन्होंने दुर्लभ निर्वाण पद को प्राप्त कर लिया। भगवान् के निर्वाण प्राप्ति की तिथि है फाल्गुन कृष्णा सप्तमी और नक्षत्र है मूल।

धर्म-परिवार :

भगवान् सुपार्श्वनाथ के धर्म-परिवार का विवरण इस प्रकार है—

गणधर	९५
केवली	११,०००
मनःपर्यवज्ञानी	९,१५०
अवधिज्ञानी	२,०००
चौदह पूर्वधारी	२,०३०
वैक्रियलब्धिधारी	१५,३००
वादी	८,४००
साधु	३,००,०००
साध्वी	४,३०,०००
श्रावक	२,५०,०००
श्राविका	४,९३,०००

□□□

चन्द्रमा

८ भगवान् चन्द्रप्रभ

भगवान् सुपार्श्वनाथ के पश्चात् आठवें तीर्थंकर भगवान् चन्द्रप्रभ हुए।

पूर्वभव :

प्राचीन काल की बात न करते हुए यदि हम वर्तमान युग की बात करें कि आज जिस नगर अथवा ग्राम में साधु-साध्वियों का सतत आवागमन बना रहता है, वहाँ धर्माराधना निर्बाध गति से चलती रहती है। प्रजा को भी अपने धर्म-गुरुओं से निरन्तर प्रेरणा मिलती रहती है और इस प्रकार धर्म-गंगा सतत प्रवाहित होती रहती है। प्राचीन काल में कुछ ऐसा ही वातावरण धातकी खण्ड में मंगलावती विजय की रत्नसंचया नगरी में था। इस नगरी में साधुओं का सतत आवागमन बना रहता था जिसके परिणामस्वरूप यहां के राजा पद्म को धर्माराधना के लिए प्रेरणा मिली और उन्होंने धर्माराधना कर अपना जीवन सफल बनाया। रत्नसंचया नगरी उस समय धर्म ध्यान में डूबी रहती थी। सतत धर्माराधना में डूबे रहने के परिणामस्वरूप राजा पद्म के हृदय में विरक्ति के भाव जागृत हो गए। अब वे आत्म-कल्याण के लिए संयम मार्ग पर चलने की कामना करने लगे। अपनी मनोकामना की पूर्ति के लिये उन्हें संयोग भी मिल गया। उन्हें युगंधर मुनि के दर्शन का सुयोग मिला, उनके उपदेश से वैराग्य भाव और भी दृढ़ हो गया तथा उनके सान्निध्य में दीक्षाव्रत अंगीकार कर लिया। दीक्षा ग्रहण करते ही उन्होंने तपस्या शुरू कर दी। तपस्या के साथ-साथ वैय्यावृत्य भी करने लगे। अपनी कठोर साधना द्वारा उन्होंने बीस स्थानकों की विशेष साधना की।

कर्म क्षीण हुए, तीर्थंकर गोत्र का उपार्जन किया और अंत समय में अनशनपूर्वक देह त्याग कर विजय विमान में अहमिन्द्र देव रूप में उत्पन्न हुए।

जन्म एवं वंश :

देव भव की अपनी आयुष्य पूर्ण होने पर राजा पद्म का जीव वहाँ से च्यवकर चैत्र कृष्णा पंचमी को अनुराधा नक्षत्र में चन्द्रपुरी के राजा महासेन की रानी लक्ष्मणा की कुक्षि में उत्पन्न हुआ। इसी रात्रि में रानी लक्ष्मणा ने महामंगलकारी चौदह महास्वप्न देखे। रानी लक्ष्मणा ने स्वप्नों का विवरण अपने

पति राजा महासेन को कह सुनाया। शुभ स्वप्नों के कारण राजा-रानी हर्ष का अनुभव करने लगे। स्वप्नफल ज्ञात होने पर दोनों की प्रसन्नता असीम हो गई। समूचे राजमहल में हर्षोल्लास का वातावरण छा गया।

गर्भकाल पूर्ण होने पर माता रानी लक्ष्मणा ने पौष कृष्णा द्वादशी को अनुराधा नक्षत्र में दिव्य आभायुक्त पुत्ररत्न को सुखपूर्वक जन्म दिया। सर्वप्रथम देवों ने पुत्र का जन्मोत्सव मनाया। तदनन्तर प्रजा एवं प्रजा ने जन्मोत्सव समारोहपूर्वक मनाया। पुत्रजन्म के अवसर पर राजा महासेन ने याचकों को मनोवांछित दान दिया, बन्दीगृह से बन्दियों को मुक्त किया। ग्यारह दिनों तक जन्मोत्सव की सारे राज्य में धूम रही।

नामकरण :

बारहवें दिन राजा महासेन ने परिजनों, मित्रों एवं नगर में लब्ध-प्रतिष्ठित व्यक्तियों को आमंत्रित किया। सबके आगमन के साथ ही बालक के नामकरण की चर्चा चल पड़ी। इस अवसर पर राजा महासेन ने बताया कि जब बालक गर्भ में था तब माता रानी लक्ष्मणा को चन्द्रपान की अपनी अभिलाषा पूर्ण की। साथ ही बालक की प्रभा चन्द्रमा के समान है। इस कारण बालक का नाम चन्द्रप्रभ रखना उचित प्रतीत होता है। वहाँ उपस्थित सभी महानुभावों ने राजा महासेन के विचारों का समर्थन किया। फलस्वरूप बालक का नाम चन्द्रप्रभ रखा गया।

गृहस्थ-जीवन एवं राज्य :

जो तीन ज्ञान (मति, श्रुति, अवधि) का धारक हो, उसे ज्ञान प्राप्ति के लिए गुरुकुल जाने की क्या आवश्यकता? फिर वैसे भी कोई भी तीर्थंकर अध्ययन के लिए गुरुकुल नहीं जाते। समय के प्रवाह के साथ राजकुमार चन्द्रप्रभ ने तरुणावस्था में प्रवेश किया और तब राजा महासेन ने अनेक रूपवती, युवा राजकन्याओं से उनका विवाह करवाया। राज्य का भार सौंपा और स्वयं दीक्षाव्रत अंगीकार कर साधना में लीन हो गए।

महाराज चन्द्रप्रभ ने अपने राज्य का संचालन निर्लिप्त भाव से कुशलतापूर्वक किया। महाराज चन्द्रप्रभ ने कुछ समय तक सत्ता का भोग किया। सुखद दाम्पत्य जीवन भी व्यतीत किया। इस व्यवहार में वे अतिवाद से दूर ही रहे। उन्होंने जो कुछ भी किया, वह केवल अपने कर्त्तव्य के निर्वाह की दृष्टि से किया। महाराज चन्द्रप्रभ सभी प्रकार से समर्थ, शक्ति-सम्पन्न होते हुए भी सदैव अहिंसाधर्म का पालन करते रहे। उन्होंने कभी किसी भी प्राणी को पीड़ा

नहीं पहुंचाई। अपने शत्रु को भी उन्होंने प्रेम के अस्त्र से अपने नियंत्रण में रखा।

महाराज चन्द्रप्रभ आत्म-नियंत्रक शक्ति के स्वामी थे। वैभव-विलास के मध्य रहते हुए भी वे विकार-रहित थे। कंचन और कामिनी के कुप्रभावों से मुक्त रहे। उनके भोगकर्मों का क्षय हुआ और उनके हृदय में वैराग्य भाव जागृत हुए। इसी अवसर पर लोकांतिक देवों ने विनती की और उन्होंने वर्षीदान देना प्रारम्भ किया, राज्य का भार अपने उत्तराधिकारी को सौंप दिया और वे दीक्षा के लिए उद्यत हो गये।

दीक्षा एवं केवलज्ञान :

महाराजा चन्द्रप्रभ ने एक हजार राजाओं के साथ दीक्षार्थ अभिनिष्क्रमण किया। पौष कृष्णा त्रयोदशी को अनुराधा नक्षत्र में समस्त पाप-कर्मों का त्याग कर भगवान् चन्द्रप्रभ ने एक हजार राजाओं के साथ सविधि दीक्षाव्रत अंगीकार किया। इस समय भगवान् को षष्ठ भक्त की तपस्या थी। दूसरे दिन पद्म खण्ड नगर के राजा सोमदत्त के यहाँ क्षीरान्न से भगवान् का पारणा हुआ। इस अवसर पर देवों ने पंचदिव्य की वर्षा कर दान की महिमा प्रकट की।

दीक्षोपरांत भगवान् तीन मास तक छद्मस्थावस्था में विचरण करते रहे। इस अवधि में भगवान् ने कठोर तपाराधना की। वन्य प्रदेशों में हिंसक प्राणियों के उपसर्गों को भी भगवान् ने धैर्यपूर्वक सहन किया। परीसहों की सहनशीलता में भगवान् ने अद्‌भुत सहिष्णुता का उदाहरण प्रस्तुत किया। अल्पज्ञ/अज्ञानी लोगों ने भी भगवान् को अनेक प्रकार के कष्ट देकर उनकी साधना के मार्ग में बाधायें उपस्थित की। रूपवती रमणियों ने उन्हें नाना-प्रकार से अपनी ओर आकर्षित करने का प्रयास किया। भगवान् इन सब परिस्थितियों में सुमेरु पर्वत की भांति अपनी साधना में अडिग बने रहे। वे अडौल रहे, अचंचल रहे। छद्मस्थ काल की तीन माह की अवधि समाप्त होने पर भगवान् सहस्राम्रवन पधारे। जहाँ प्रियंगु वृक्ष के नीचे शुक्लध्यान में लीन हो गये। चार घातिक कर्मों की निर्जरा के साथ ही भगवान् को केवलज्ञान की उपलब्धि हो गई। भगवान् सर्वज्ञ हो गए। भगवान् का केवलज्ञान महोत्सव मनाया गया। तत्पश्चात् भगवान् ने देवताओं द्वारा बनाये गए समवसरण में विराजकर देव, दानवों, पशुओं और मनुष्यों की विशाल सभा में शरीर की अपवित्रता और मलिनता पर अपनी धर्म देशना दी। भगवान् की देशना का प्रभाव हुआ। उससे प्रेरणा प्राप्त कर हजारों नर-नारियों ने संयमव्रत अंगीकार कर लिया। अन्य हजारों ने श्रावक धर्म स्वीकार किया। इस प्रकार भगवान् ने चतुर्विध संघ की स्थापना की।

परिनिर्वाण :

यह जानकर कि अब अंत समय निकट आ गया है। आयुष्य समाप्त हो रहा है। भगवान् एक हजार मुनियों के साथ सम्मेतशिखर पर पधारे और एक मास के अनशन व्रत से चार अघाति कर्मों का क्षय किया। भाद्रपद कृष्णा सप्तमी को अनुराधा नक्षत्र में भगवान् अपनी देह का त्यागकर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो गए। उन्होंने निर्वाण पद प्राप्त कर लिया।

धर्म-परिवार :

गणधर	९३
केवली	१०,०००
मनःपर्यवज्ञानी	८,०००
अवधिज्ञानी	८,०००
चौदहपूर्वधारी	२,०००
वैक्रियलब्धिधारी	१४,०००
वादी	७,६००
साधु	२,००,०००
साध्वी	३,१०,०००
श्रावक	२,५०,०००
श्राविका	४,२१,०००

□□□

९ भगवान् सुविधिनाथ

मकर

भगवान् चन्द्रप्रभ के पश्चात् भगवान् सुविधिनाथ नौवें तीर्थंकर हुए। भगवान् का दूसरा नाम पुष्पदंत भी बताया गया है।

पूर्वभव :

पुष्कलावती विजय की पुण्डरीकिणी नगरी पर राजा महापद्म का राज था। राजा महापद्म न्यायप्रियता के साथ ही साथ धर्मप्रिय और प्रजावत्सल भी थे। इस रूप में उनकी कीर्ति चारों ओर फैली हुई थी। वे सत्ता के अहंकार से मुक्त थे और सुख-वैभव तथा रूपवती युवा रानियों के मध्य रहते हुए भी अनासक्त थे। उचित अवसर पाकर उन्होंने अपना राज्य अपने पुत्र को सौंपा और स्वयं जगन्नाथ मुनि के पास दीक्षाव्रत अंगीकार कर लिया। संयम व्रत अंगीकार करके वे ध्यान साधना और स्वाध्याय में तल्लीन हो गये। उच्च तप साधना के द्वारा उन्होंने तीर्थंकर नाम कर्म गोत्र का उपार्जन किया। अंत समय में अपनी देह का त्यागकर वे वैजयन्त विमान में अहमिन्द्र देव के रूप में उत्पन्न हुए।

जन्म एवं वंश :

प्राचीन काल में काकंदी नगरी पर राजा सुग्रीव का राज था। राजा सुग्रीव की महारानी का नाम रामा देवी था। ये ही भगवान् सुविधिनाथ के माता-पिता थे। अहमिन्द्र देव की अपनी आयुष्य पूर्ण होने पर वे वहाँ से च्यव कर फाल्गुन कृष्णा नवमी को मूल नक्षत्र में रानी रामा देवी की कुक्षि में गर्भ रूप में उत्पन्न हुए। उसी रात्रि में रानी रामदेवी ने महामंगलकारी चौदह महास्वप्न देखे। स्वप्नशास्त्रियों ने इन स्वप्नों का फल बताया कि रानी रामादेवी "तीर्थंकर" की माता होने का गौरव प्राप्त करेगी। यह सुनकर न केवल राजमहल में वरन् सम्पूर्ण राज्य में हर्ष, उमंग एवं उत्साह का वातावरण छा गया।

रानी रामादेवी सावधानीपूर्वक गर्भ की पालना करने लगी। गर्भकाल पूर्ण होने पर मिगसिर कृष्णा पंचमी के दिन मूल नक्षत्र की शुभ घड़ी में रानी माता रमा देवी ने सुखपूर्वक पुत्ररत्न को जन्म दिया। पुत्ररत्न की प्राप्ति से राजा सुग्रीव हर्षित हो उठे। राजमहल में खुशियां छा गईं। राज्य में आनन्द

और उमंग की लहर व्याप्त हो गई। देवों ने सबसे पहले भगवान् का जन्मोत्सव मनाया। इसके पश्चात् राजा, राजपरिवार एवं राजा ने अपने राजकुमार का जन्मोत्सव मनाया। इस अवसर पर राजा सुग्रीव ने याचकों को मनोवांछित दान दिया। बन्दियों को मुक्त किया।

नामकरण :

जब बालक के नामकरण का दिन आया तो राजा सुग्रीव ने परिजनों के अतिरिक्त अन्य प्रतिष्ठत व्यक्तियों को भी आमंत्रित किया और भोज का आयोजन भी रखा। जब बालक के नामकरण पर विचार विमर्श शुरू हुआ तो राजा सुग्रीव ने गर्भकाल में घटित घटनाओं का विवरण देते हुए बताया कि उस समय बालक की माता हर विधि से कुशल रही। वह हर विधि की जानकार भी बन गई थी। अतः बालक का नाम सुविधि रखना उचित रहेगा। इस नाम पर सबने हर्षपूर्वक अपनी सहमति व्यक्त की। इसके साथ ही राजा सुग्रीव ने यह भी बताया कि जब बालक अपनी माता के गर्भ में था तब माता को पुष्प का दोहद उत्पन्न हुआ था, इस आधार पर बालक का नाम पुष्पदन्त भी रखा गया। इस प्रकार भगवान् के दो नाम सुविधि एवं पुष्पदंत विख्यात हुए।

गृहस्थ-जीवन एवं राज्य :

राजकुमार सुविधि के युवा होने पर राजा सुग्रीव ने योग्य राजकुमारियों के साथ उनका पाणिग्रहण करवाया। यथासमय राजा सुग्रीव ने युवराज सुविधि को राज्य सौंपा और स्वयं संयमव्रत अंगीकार कर साधना में लीन हो गये। उन्होंने तटस्थ भाव से गृहस्थ-जीवन का पालन किया। अपना कर्त्तव्य समझकर राज किया। अपार सुख-वैभव के होते हुए भी वे अनासक्त ही बने रहे। इस अवधि में भी उनका विशिष्ट चिंतन चलता रहा। उनके शासन काल में प्रजा सर्वप्रकारेण सुखी थी। राज्य में चारों ओर सुख और शांति व्याप्त थी।

दीक्षा एवं केवलज्ञान :

भोग कर्मों की समाप्ति पर उन्होंने अपना राज्य अपने उत्तराधिकारी को सौंप दिया और लोकांतिक देवों की प्रार्थना पर वर्षीदान देकर एक हजार राजाओं के साथ महाराजा सुविधि ने दीक्षार्थ अभिनिष्क्रमण किया। मिगसिर कृष्णा षष्ठी के दिन मूल नक्षत्र में सूरजप्रभा शिविका से भगवान् सहस्राम्र वन में पधारें और सिद्ध की साक्षी से सम्पूर्ण पापों का परित्याग कर दीक्षाव्रत अंगीकार किया। इस समय भगवान् को बेले की तपस्या थी। दीक्षाव्रत अंगीकार करते ही उन्हें मन-पर्यवज्ञान की प्राप्ति हुई। आपके साथ एक हजार राजाओं ने भी

दीक्षा ग्रहण की। दीक्षा के दूसरे दिन श्वेतपुर के राजा पुष्य के यहाँ भगवान् का परमान्न से पारणा हुआ। इस अवसर पर देवों ने पंच दिव्य प्रकट कर दान की महिमा बताई।

दीक्षा के उपरांत चार माह तक भगवान् सतत कठोर साधना में लीन रहे। वे एकाकी स्थानों पर भी आत्मलीन बने रहे। इस अवधि में अनेक परिषह और उपसर्ग भी समतापूर्वक सहन किये। वे अविचलित ही बने रहे। ऐसी स्थिति में ही ग्रामानुग्राम विचरण करते रहे। उनकी साधना उत्तरोत्तर विकास पथ पर बढ़ती रही। फिर विचरण करते हुए भगवान् काकंदी नगरी में पधारे। वहाँ शाल वृक्ष के नीचे क्षपक श्रेणी पर आरोहण कर घातिक कर्मों का क्षय किया और इसके साथ ही भगवान् को केवलज्ञान हो गया। वे सर्वज्ञ बन गये। देवताओं ने भगवान् का केवलज्ञान महोत्सव मनाया, देवों द्वारा निर्मित समवसरण में विराजकर प्रभावशाली देशना दी। भगवान् की इस धर्मदेशना को सुनने के लिए देव दानव मानव ही नहीं; पशु-पक्षी आदि भी वहाँ एकत्र हुए थे। भगवान् ने अपनी धर्म देशना में मुक्ति मार्ग सुझाया। आत्मा के सम्बन्ध में स्पष्टीकरण फरमाया। भगवान् की धर्मदेशना से प्रभावित होकर अनेक नर-नारियों ने संयम व्रत अंगीकार किया और अनेक नर-नारियों ने श्रावक धर्म स्वीकार किया। इस प्रकार भगवान् ने चतुर्विध तीर्थ की स्थापना की और आप तीर्थंकर कहलाये।

परिनिर्वाण :

भगवान् सुविधिनाथ ने जब अपना अंतिम समय निकट देखा तो वे एक हजार केवली साधुओं के साथ सम्मेतशिखर पधारे। यहाँ एक मास के अनशन के साथ शेष कर्मों का क्षय कर भाद्रपद कृष्णा नवमी को मूल नक्षत्र में भगवान् ने दुर्लभ निर्वाण पद प्राप्त किया। वे सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो गये।

तीर्थ-विच्छेद :

जैन काल गणना के अनुसार भगवान् ऋषभदेव और भगवान् सुविधिनाथ के मध्य काफी लम्बी अवधि बीत चुकी थी। इतना होते हुए भी कभी तीर्थ विच्छेद नहीं हुआ था। साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविकाओं और प्रवचन का अभाव नहीं हुआ था। यह बात अलग है कि इनकी संख्या घटती-बढ़ती रही किन्तु अभाव की स्थिति नहीं रही। समय चक्र का प्रभाव कहें अथवा काल-दोष कहें भगवान् सुविधिनाथ के परिनिर्वाण के कुछ समय पश्चात् तीर्थ-विच्छेद हो गया। गृहस्थ के प्रवचन होने लगे, मूल तत्त्व के प्रति आस्था समाप्त हो गई। इच्छानुसार दानादि धर्म का उपदेश देने लगे। यह स्थिति दसवें तीर्थंकर भगवान् शीतल

नाथ के पूर्व तक बनी रही। मिथ्या प्रचार प्रबलतर होता गया। यही समय ब्राह्मण-संस्कृति के प्रचार-प्रसार का प्रमुख काल रहा।

अवसर्पिणी काल में होने वाले दस आश्चर्यों में इसे एक आश्चर्य माना गया है।

धर्म-परिवार :

भगवान् सुविधिनाथ के धर्म-परिवार का विवरण इस प्रकार है:—

गणधर	८८
केवली	७५००
मनःपर्यवज्ञानी	७,५००
अवधिज्ञानी	८,४००
चौदह पूर्वधारी	१,५००
वैक्रियलब्धिधारी	१३,०००
वादी	८,०००
साधु	२,००,०००
साध्वी	१,२०,०००
श्रावक	२,२१,०००
श्राविका	४,७१,०००

❑❑❑

श्रीवत्स

१० भगवान् शीतलनाथ

नवमें तीर्थंकर भगवान् सुविधिनाथ के पश्चात् भगवान् शीतलनाथ दसवें तीर्थंकर हुए। चिह्न:

पूर्वभव :

प्राचीनकाल में सुसीमा नामक एक नगरी थी। इस नगरी पर महाराज पद्मोत्तर का राज था। महाराज पद्मोत्तर मानवीय गुणों से परिपूर्ण थे। उनके राज में सब कुछ व्यवस्थित था। प्रजा सम्मानजनक ढंग से जीवनयापन कर रही थी। महाराज पद्मोत्तर न्याय एवं नीतिवान थे। जनता पुरुषार्थ में विश्वास करने वाली थी। जनता सात्विक एवं शालीन जीवन व्यतीत कर रही थी।

महाराज पद्मोत्तर के हृदय मे वैराग्य के अंकुर फूटे। उन्होंने अपने पुत्र को राज्य-भार सौंपा और स्वयं ने विस्ताध आचार्य की सेवा में दीक्षाव्रत अंगीकार कर लिया। मुनि पद्मोत्तर ने नानाविध कठोर तपस्यायें की। उत्कट एवं कठोर साधना का प्रतिफल भी उन्हें मिला। कर्म-निर्जरा होने पर उन्होंने तीर्थंकर गोत्र का उपार्जन किया। आयुष्य पूर्ण कर देह का त्याग किया और उनका जीव प्राणत स्वर्ग में बीस सागर की स्थिति वाला देव बना।

जन्म एवं वंश :

देव भव की बीस सागर की आयुष्य पूर्णकर पद्मोत्तर का जीव भद्दिलपुर के महाराजा दृढ़रथ जो प्रजापालक एवं धर्मपालक के रूप में विख्यात थे, की महारानी नन्दा देवी की कुक्षि में वैशाख कृष्णा षष्ठी के दिन पूर्वाषाढ़ा नक्षत्र के शुभ योग में स्वर्ग से च्यवकर उत्पन्न हुआ। उसी रात्रि में महारानी नन्दादेवी ने चौदह महास्वप्न देखे। स्वप्नों का फल ज्ञात होने पर उत्साह एवं उमंग की लहर व्याप्त हो गई।

गर्भकाल समाप्त हुआ और माघ कृष्णा द्वादशी की मध्य रात्रि में पूर्वाषाढ़ा नक्षत्र में महारानी नन्दा देवी ने सुखपूर्वक पुत्ररत्न को जन्म दिया। पुत्ररत्न के जन्म होते ही सम्पूर्ण विश्व में शांति एवं आनन्द की लहर व्याप्त हो गई। देवों ने भगवान् का जन्मोत्सव मनाया। महाराज दृढ़रथ ने पुत्र का जन्मोत्सव

धूमधाम से मनाया। याचकों को मनोवांछित दान दिया। बन्दियों को मुक्त किया। सम्पूर्ण राज्य में प्रजा ने भी अपने युवराज का जन्मोत्सव पूरी उमंग और हर्षोल्लास के साथ मनाया। इस प्रकार ग्यारह दिनों तक पुत्र जन्मोत्सव की धूम मची रही।

नामकरण :

बारहवें दिन बालक के नामकरण पर विचार विमर्श हुआ। तब महाराज दृढ़रथ ने बताया कि जब यह बालक अपनी माता के गर्भ में था, तब वे भयंकर दाह ज्वर की पीड़ा से ग्रस्त थे। कई प्रकार के उपचार करवाये किन्तु कोई लाभ नहीं हुआ। एक दिन गर्भवत्सल में नन्दादेवी ने उनका कर स्पर्श किया। उसके स्पर्श मात्र से उनकी पीड़ा समाप्त हो गई और तन-मन में शीतलता छा गई। अतः बालक का नाम शीतल रखा जाना उचित प्रतीत होता है। सभी उपस्थित महानुभावों ने इस नाम पर अपनी सहमति प्रकट कर दी।

गृहस्थ-जीवन और राज्य :

महाराजा दृढ़रथ वात्सल्य भाव से अपनी प्रजा का पालन कर रहे थे। वे प्रजा की सेवा-सहायता करने में तो वे विशेष रूप से तत्पर बने रहते थे। उन्होंने अपने राज्य में स्थान-स्थान पर भोजशालाएँ और दानशालाएं स्थापित कर रखी थीं। इन सब कारणों से महाराजा दृढ़रथ अपनी प्रजा में काफी लोकप्रिय थे।

राज्य का सब कार्य सुचारु रूप से चल रहा था। युवराज शीतल युवा हुए। यौवनावस्था के साथ-साथ उनका बल-विक्रम और विवेक भी प्रकट होने लगा। वे वैवाहिक बंधनों में बंधना तो नहीं चाहते थे किंतु संसार का सामान्य व्यवहार मानकर एवं माता-पिता की आज्ञा की अवज्ञा न हो इसलिये उन्होंने विवाह बंधन स्वीकार किया। महाराजा दृढ़रथ ने योग्य एवं रूपवती राजकुमारियों के साथ उनका पाणिग्रहण करवाया। वे अनासक्त भाव से दाम्पत्य जीवन व्यतीत करने लगे। यथासमय महाराजा दृढ़रथ के हृदय में विरक्ति के भाव उत्पन्न हुए और राज्य-भार अपने पुत्र शीतल को सौंपकर उन्होंने दीक्षाव्रत ग्रहण कर लिया। दीक्षोपरांत वे आत्म साधना में लीन हो गए।

महाराजा शीतल ने केवल कर्त्तव्य भावना से राज किया। वैभव सम्पन्न होने पर भी उन्होंने विवेक के साथ निःस्वार्थ भाव से राज किया। उन्होंने पचास हजार पूर्व तक शासन का संचालन किया। उनके राज में प्रजा पूर्ण रूप से

सुखी थी। उनके भोग-कर्म समाप्त हुए। उन्होंने संयम मार्ग पर चलने की अपनी भावना अभिव्यक्त की और इसी समय लोकांतिक देवों ने भी भगवान् से प्रार्थना की। भगवान् ने अपने उत्तराधिकारी को राज्य का भार सौंपा और वर्षीदान देकर दीक्षार्थ अभिनिष्क्रमण किया।

दीक्षा एवं केवलज्ञान :

भगवान् वर्षीदान की समाप्ति पर दीक्षार्थ चन्द्रप्रभा नामक शिविका में बैठकर सहस्राम्रवन पधारे। माघ कृष्णा द्वादशी के दिन पूर्वाषाढ़ा नक्षत्र में पंचमुष्टि लोच कर भगवान् ने दीक्षाव्रत ग्रहण किया। उनके साथ एक हजार अन्य राजाओं ने भी दीक्षाव्रत अंगीकार किया। इस समय भगवान् के षष्ठ भक्त की तपस्या थी। भगवान् सम्पूर्ण पापकर्मों का परित्याग कर मुनि बन गए। दीक्षा ग्रहण करते ही भगवान् को मनःपर्यवज्ञान की उपलब्धि हुई। दीक्षा के दूसरे दिन अरिष्टपुर के महाराजा पुनर्वसु के यहाँ क्षीरान्न से भगवान् का पारणा हुआ। देवों ने पंचदिव्य प्रकट कर दान की महिमा बताई।

अपने संयमी जीवन में भगवान् ने कठोर साधना की। मौनव्रत का दृढ़तापूर्वक पालन किया। विविध प्रकार के परीषहों को सहन करते हुए भगवान् तीन माह तक छद्मस्थ अवस्था में ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए उसी सहस्राम्रवन में पधारे और पीपल के वृक्ष के नीचे शुक्लध्यान में स्थित हो गए। शुक्ल-ध्यान में भगवान् ने चार घाती कर्मों का क्षय किया और पौष कृष्णा चतुर्दशी को पूर्वाषाढ़ा नक्षत्र में केवलज्ञान का उपार्जन किया। भगवान् सर्वज्ञ बन गए। भगवान् का केवलज्ञान महोत्सव मनाया गया। भव्य समवसरण में विराजकर भगवान् ने साधुत्व एवं श्रावकत्व के विषय में अपनी प्रथम देशना में विस्तार से समझाया। भगवान् की देशना से प्रेरणा प्राप्त कर अनेक नर-नारियों ने दीक्षाव्रत ग्रहण किया और अनेक ने श्रावक-व्रत स्वीकार किया। इस प्रकार भगवान् ने चतुर्विध संघ रूप तीर्थ की स्थापना की और स्वयं भाव तीर्थंकर कहलाये।

परिनिर्वाण :

भगवान् शीतलनाथ ने जान लिया कि उनका आयुष्य एक लाख पूर्व अब समाप्त होने वाला है और अंत समय निकट आ गया है, ऐसा जानकर भगवान् एक हजार मुनियों के साथ सम्मेतशिखर पर पधारे। जहां एक माह के अनशन के साथ समस्त अघाती कर्मों का क्षय कर उन्होंने दुर्लभ निर्वाण पद प्राप्त किया। वे सिद्ध-बुद्ध और मुक्त हो गए। यह दिन था वैशाख कृष्णा द्वितीया और नक्षत्र था पूर्वाषाढ़ा।

धर्म-परिवार :

भगवान् शीतलनाथ के धर्मपरिवार का विवरण इस प्रकार है:—

गणधर	८१
केवली	७७००
मनःपर्यवज्ञानी	७५००
अवधिज्ञानी	७२००
चौदह पूर्वधारी	१३४००
वैक्रियलब्धिधारी	१०६०००
वादी	५८००
साधु	१,००८०००
साध्वी	१,०३,०००
श्रावक	२,८९,०००
श्राविका	४,५८,०००

□□□

सुखी थी। उनके भोग-कर्म समाप्त हुए। उन्होंने संयम मार्ग पर चलने की अपनी भावना अभिव्यक्त की और इसी समय लोकांतिक देवों ने भी भगवान् से प्रार्थना की। भगवान् ने अपने उत्तराधिकारी को राज्य का भार सौंपा और वर्षीदान देकर दीक्षार्थ अभिनिष्क्रमण किया।

दीक्षा एवं केवलज्ञान :

भगवान् वर्षीदान की समाप्ति पर दीक्षार्थ चन्द्रप्रभा नामक शिविका में बैठकर सहस्राम्रवन पधारे। माघ कृष्णा द्वादशी के दिन पूर्वाषाढ़ा नक्षत्र में पंचमुष्टि लोच कर भगवान् ने दीक्षाव्रत ग्रहण किया। उनके साथ एक हजार अन्य राजाओं ने भी दीक्षाव्रत अंगीकार किया। इस समय भगवान् के षष्ठ भक्त की तपस्या थी। भगवान् सम्पूर्ण पापकर्मों का परित्याग कर मुनि बन गए। दीक्षा ग्रहण करते ही भगवान् को मनःपर्यवज्ञान की उपलब्धि हुई। दीक्षा के दूसरे दिन अरिष्टपुर के महाराजा पुनर्वसु के यहाँ क्षीरान्न से भगवान् का पारणा हुआ। देवों ने पंचदिव्य प्रकट कर दान की महिमा बताई।

अपने संयमी जीवन में भगवान् ने कठोर साधना की। मौनव्रत का दृढ़तापूर्वक पालन किया। विविध प्रकार के परीषहों को सहन करते हुए भगवान् तीन माह तक छद्मस्थ अवस्था में ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए उसी सहस्राम्रवन में पधारे और पीपल के वृक्ष के नीचे शुक्लध्यान में स्थित हो गए। शुक्ल-ध्यान में भगवान् ने चार घाती कर्मों का क्षय किया और पौष कृष्णा चतुर्दशी को पूर्वाषाढ़ा नक्षत्र में केवलज्ञान का उपार्जन किया। भगवान् सर्वज्ञ बन गए। भगवान् का केवलज्ञान महोत्सव मनाया गया। भव्य समवसरण में विराजकर भगवान् ने साधुत्व एवं श्रावकत्व के विषय में अपनी प्रथम देशना में विस्तार से समझाया। भगवान् की देशना से प्रेरणा प्राप्त कर अनेक नर-नारियों ने दीक्षाव्रत ग्रहण किया और अनेक ने श्रावक-व्रत स्वीकार किया। इस प्रकार भगवान् ने चतुर्विध संघ रूप तीर्थ की स्थापना की और स्वयं भाव तीर्थंकर कहलाये।

परिनिर्वाण :

भगवान् शीतलनाथ ने जान लिया कि उनका आयुष्य एक लाख पूर्व अब समाप्त होने वाला है और अंत समय निकट आ गया है, ऐसा जानकर भगवान् एक हजार मुनियों के साथ सम्मेतशिखर पर पधारे। जहां एक माह के अनशन के साथ समस्त अघाती कर्मों का क्षय कर उन्होंने दुर्लभ निर्वाण पद प्राप्त किया। वे सिद्ध-बुद्ध और मुक्त हो गए। यह दिन था वैशाख कृष्णा द्वितीया और नक्षत्र था पूर्वाषाढ़ा।

गर्भकाल पूर्ण हुआ और फाल्गुन कृष्णा द्वादशी को माता ने सुखपूर्वक पुत्ररत्न को जन्म दिया। आपका जन्म होते ही चारों ओर सुख-शांति और हर्ष का वातावरण छा गया। सर्वप्रथम देवों ने भगवान् का जन्मोत्सव मनाया। तत्पश्चात् राजा विष्णुदेव ने और फिर प्रजा ने अपने कुमार का जन्मोत्सव धूमधाम से मनाया। याचकों को मनोवांछित दान दिया गया तथा बंदियों को मुक्त कर दिया गया। राज्य के हर घर में कुमार के जन्मोत्सव की उमंग एवं उत्साह छाया हुआ था।

नामकरण :

नामकरण वाले दिन राजा विष्णुदेव ने उपस्थितों को बताया कि जब से यह बालक अपनी माता के गर्भ में आया तभी से राज्य में सभी प्रकार से श्रेयस्कर कार्य हुए हैं। राज्य और जनपद के लिये भी समय श्रेयस्कर ही रहा है। चारों और वातावरण भी मंगलमय ही रहा है। इस बात को लक्ष्य कर बालक का नाम श्रेयांस रखा जाना उचित प्रतीत होता है। इस पर वहाँ उपस्थित सभी महानुभावों ने अपनी सहमति जताई और इस प्रकार बालक का नाम श्रेयांसकुमार रखा गया।

गृहस्थ-जीवन एवं राज्य :

राजकुमार श्रेयांस ने तरुणावस्था में प्रवेश किया। जब उनके सम्मुख विवाह की बात आई तो उन्होंने उस पर कोई ध्यान नहीं दिया। जब माता-पिता के अत्याग्रह को उन्होंने मान्य किया तब पिता राजा विष्णुदेव ने अनेक रूपवती, युवा राजकन्याओं के साथ उनका पाणिग्रहण करवाया। जिस समय श्रेयांसकुमार की आयु इक्कीस लाख वर्ष की हुई तब राजा विष्णुदेव ने उनका राज्याभिषेक कर राज्य उन्हें सौंप दिया और स्वयं दीक्षाका अंगीकार कर तप-साधना में लीन हो गये।

एक राजा के रूप में श्रेयांस भूपति ने अपने कर्तव्यों का निर्वहन समुचित रूप से किया। उन्होंने न्यायपूर्वक अपने राज्य का संचालन किया। उनके राज में प्रजा पूर्ण रूप से सुखी थी। चारों ओर शांति का साम्राज्य था। राजा श्रेयांस ने न तो सत्ता का उपयोग अपने सुख के लिए किया और न ही उन्होंने सुखों का उपभोग अनासक्ति से किया। वैभव-सम्पन्नता के मध्य भी वे निर्लिप्त/अनासक्त बने रहे। इस अवधि में उन्होंने जो कुछ भी किया वह केवल अपने कर्तव्य के लिए किया। जब उनके उत्तराधिकारी सक्षम हो गए तो उनके मन में आत्म कल्याण के मार्ग पर चलने की भावना उत्पन्न हुई। इसी समय लोकांतिक देवों ने भी उनसे प्रार्थना की तब उन्होंने अपना राज्य

पार अपने उत्तराधिकारी को सौंपा और वर्षीदान देने लगे। कोई भी याचक उनके द्वार से खाली हाथ नहीं लौटा।

दीक्षा एवं केवल ज्ञान :

वर्षीदान देने के पश्चात् एक हजार अन्य राजाओं के साथ भगवान् श्रेयांसनाथ ने दीक्षा के लिए अभिनिष्क्रमण किया। फाल्गुन कृष्णा त्रयोदशी के दिन श्रवण नक्षत्र में सहस्राम्रवन के अशोक वृक्ष के नीचे समस्त पाप-कर्मों का परित्याग कर आपने विधिपूर्वक दीक्षाग्रहण की। दीक्षाव्रत अंगीकार करने के साथ ही भगवान् श्रेयांसनाथ ने मौन व्रत धारण कर लिया। दीक्षा के दूसरे दिन भगवान् का पारणा सिद्धार्थपुर के नरेश नन्द के यहां परमान्न से हुआ।

दीक्षा के पश्चात् भगवान् श्रेयांसनाथ दो माह तक विभिन्न प्रकार के उपसर्गों और परीषहों को समता एवं धैर्यपूर्वक सहन करते हुए अविचलित मन से ग्रामानुग्राम विचरण करते रहे। दो माह तक भगवान् छद्मस्थ अवस्था में रहे। फिर माघ कृष्णा अमावस्या को संयम श्रेणी द्वारा मोह-विजय कर शुक्लध्यान की उच्च स्थिति में घाती-कर्मों की निर्जरा कर षष्ठ तप से आपने केवलज्ञान-केवलदर्शन का उपार्जन किया। केवलज्ञान प्राप्ति के पश्चात् समवसरण में विराजकर भगवान् ने देव-मानवों की विशाल सभा में श्रुति-चारित्र धर्म की देशना दी। परिणामस्वरूप अनेक नर-नारियों ने दीक्षाव्रत अंगीकार किया और अनेक ने श्रावक धर्म स्वीकार किया। इस प्रकार भगवान् ने चतुर्विध तीर्थ की स्थापना की और भाव तीर्थंकर कहलाये।

विशिष्ट प्रभाव :

केवलज्ञान की उपलब्धि और चतुर्विध संघ तीर्थ की स्थापना के पश्चात् भगवान् श्रेयांसनाथ विभिन्न क्षेत्रों में विचरण करते रहे। इसी अनुक्रम में विचरण करते हुए भगवान् पोदनपुर पधारे। राजपुरुष ने भगवान् के पधारने की सूचना तत्कालीन प्रथम वासुदेव त्रिपृष्ठ को दी।

भगवान् के आगमन का समाचार सुनकर त्रिपृष्ठ इतना अधिक हर्षित हुआ कि समाचार देने वाले को उसने साढ़े बारह करोड़ मुद्रायें पुरस्कार में दीं। वह अपने भ्राता बलदेव के साथ भगवान् के चरणों में दर्शन-वंदन करने पहुँचा। भगवान् की पीयूषवर्षी वाणी श्रवण कर दोनों भाइयों ने सम्यक्त्व धारण किया।

वर्तमान अवसर्पिणी काल के त्रिपृष्ठ प्रथम वासुदेव और उनके भाई अचल प्रथम बलदेव थे। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि सत्ता के सर्वोच्च

पद पर आसीन व्यक्तियों से लेकर सामान्य व्यक्ति तक सभी भगवान् श्रेयांसनाथ की पावन चरण शरण में हर्षोल्लास के साथ आते रहते थे।

परिनिर्वाण :

अपना निर्वाण काल निकट जानकर भगवान् एक हजार मुनियों के साथ सम्मेतशिखर पर पधारे और अनशन गहण कर लिया। एक मास के अनशन के पश्चात् उन्होंने शुक्लध्यान के अंतिम चरण में अयोगी दशा को प्राप्त कर श्रावण कृष्णा तृतीया को धनिष्ठा नक्षत्र में सम्पूर्ण कर्मों का क्षय कर निर्वाण प्राप्त किया। वे सिद्ध-बुद्ध और मुक्त हो गये। भगवान् की सम्पूर्ण आयु चौरासी लाख वर्ष थी।

धर्म-परिवार :

भगवान् श्रेयांसनाथ के धर्म-परिवार का विवरण इस प्रकार है :—

गणधर	७६
केवली	६,५००
मनःपर्यवज्ञानी	६,०००
अवधिज्ञानी	६,०००
चौदह पूर्वधारी	१,३००
वैक्रियलब्धिधारी	११,०००
वादी	५,०००
साधु	८४,०००
साध्वी	१,०३,०००
श्रावक	२,७१,०००
श्राविका	४,४१,०००

□□□

१२ भगवान् वासुपूज्य

महिष

भगवान् श्रेयांसनाथ के बाद भगवान् वासुपूज्य बारहवें तीर्थंकर हुए। अभी तक हुए ग्यारह तीर्थंकरों के पश्चात् आप प्रथम तीर्थंकर थे जो कुमारावस्था में रहे, विवाह नहीं किया अर्थात् गृहस्थ जीवन नहीं जिया और राज भी नहीं किया।

पूर्वभव :

अर्धपुष्कर द्वीप में मंगलावती विजय की रत्नसंचया नगरी पर राजा पद्मोत्तर का शासन था। राजा पद्मोत्तर जीवन में अध्यात्म को अत्यधिक महत्व देते थे। "संसार अनित्य है" इस तत्त्व को कभी भी विस्मृत नहीं करते थे। राजा थे तो भोग सामग्री का कोई अभाव नहीं था किन्तु सब कुछ होते हुए भी वे उस ओर आसक्त नहीं हुए, अनासक्त ही बने रहे। सदैव अध्यात्म और आत्म-विकास के विषय में ही चिंतन करते रहते। अपनी इस विरक्त भावना के अनुरूप अवसर मिलते ही उन्होंने राज्यभार अपने पुत्र को सौंपा और स्वयं आचार्य वज्रनाभ की सेवा में पहुंचकर दीक्षाव्रत ग्रहण कर लिया। अपनी साधना के प्रति सजग थे। उन्होंने उग्र-कठोर तप एवं अर्हद्-भक्ति आदि शुभ बीस स्थानकों की आराधना कर तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन किया और अंतिम समय में अपनी देह का त्याग कर प्राणत स्वर्ग में ऋद्धिमान देव हुए।

जन्म एवं वंश :

उन दिनों चम्पानगरी के राजा वसुपूज्य थे। राजा वसुपूज्य अत्यन्त पराक्रमी थे। महारानी जया उनकी धर्मपत्नी थीं। देव भव की अपनी आयुष्य पूर्ण कर पद्मोत्तर का जीव प्राणत स्वर्ग से चवकर ज्येष्ठ शुक्ला नवमी को शतभिषा नक्षत्र में महारानी जया की कुक्षि में उत्पन्न हुआ। उसी रात्रि में महारानी जया ने चौदह महामंगलकारी महास्वप्न देखे। स्वप्नशास्त्रियों से स्वप्नों का फल जानकर राजा-रानी आदि सभी अति हर्षित हुए। सावधानीपूर्वक गर्भ का पालन करते हुए गर्भकाल पूर्ण होने पर फाल्गुन कृष्णा चतुर्दशी के दिन शतभिषा नक्षत्र के शुभ योग में महारानी जया ने सुखपूर्वक पुत्ररत्न को जन्म

दिया। देवों ने जन्मोत्सव मनाया, फिर राजा वसुपूज्य ने अपने पुत्र का जन्मोत्सव धूमधाम से मनाया। सम्पूर्ण राज्य में राजकुमार का जन्मोत्सव मनाया गया। याचकों को मनोवांछित दान भी दिया गया।

नामकरण :

नामकरण वाले दिन परिजनों सहित नगर के अनेक प्रतिष्ठित व्यक्ति एकत्र हुए। सभी ने बालक में राजा वसुपूज्य की आभा देखी और उन्होंने जाना कि इस बालक में अपने पिता के समस्त गुण भी विद्यमान हैं। साथ ही यह भी चाहा कि बालक के नाम के साथ पिता के नाम की ध्वनि भी निकलती रहे ताकि उनका भी स्मरण रहे, इसलिये सभी ने एक स्वर में साग्रह निवेदन किया कि बालक का नाम वासुपूज्य रखा जावे। वसुपूज्य के पुत्र होने के कारण वासुपूज्य नाम रखा जाना उचित रहेगा। राजा वसुपूज्य ने सभी के आग्रह को स्वीकार कर लिया। इस प्रकार बालक का नाम वासुपूज्य रखा गया।

गृहस्थ-जीवन और राज्य :

भगवान् वासुपूज्य के लिये यह मान्यता है कि वे अविवाहित ही रहे। दिगम्बर परम्परा भी इसी मान्यता को स्वीकार करती है। जब वासुपूज्य तरुणावस्था में आए तब उनके शारीरिक सौन्दर्य को देखकर एवं उनके बल पराक्रम का अनुमान लगाकर अनेक राजाओं ने राजा वसुपूज्य के समक्ष अपनी राजकुमारियों के विवाह का प्रस्ताव रखते हुए आग्रह किया—"राजकुमार वासुपूज्य और हमारी पुत्री राजकुमारी की जोड़ी बहुत अच्छी रहेगी। अतः आप दोनों का पाणिग्रहण करवा दें।" राजा वसुपूज्य और रानी जया भी अपने पुत्र का विवाह करना चाहते थे। उन्होंने वासुपूज्य के समक्ष विवाह का प्रस्ताव रखा। कुमार वासुपूज्य तो प्रारम्भ से ही संसार के मायाजाल से दूर रहना चाहते थे। वे न तो विवाह ही करना चाहते थे और न ही वे राज्यारोहण करना चाहते थे। वे तो दीक्षाव्रत अंगीकार कर आत्म-कल्याण करना चाहते थे। जब उनके सम्मुख विवाह का प्रस्ताव आया तो उन्होंने स्पष्ट रूप से अपनी असहमति व्यक्त कर दी और यह भी बता दिया कि वे दीक्षा ग्रहण करना चाहते हैं। उनकी भावना को जानकर पिता राजा वसुपूज्य एवं माता रानी जया को थोड़ा आश्चर्य अवश्य हुआ किंतु फिर भी राजा वसुपूज्य ने कहा—"मानता हूँ कि तुम आत्म-कल्याण करना चाहते हो। जो चाहते हो वह करो। मैं रोकूंगा नहीं किन्तु उसके पूर्व सांसारिक सुखों का अनुभव भी ले लो तो ठीक रहेगा।"

"मैं इस मोह-मायाजाल में पड़ना नहीं चाहता। मैंने जो सोच लिया है वही करूंगा।" वासुपूज्य ने कहा।

"तुमने जो सोचा वह करो परन्तु दीक्षाव्रत लेने के पूर्व आदि तीर्थंकर से लेकर श्रेयांसनाथ तक सभी ने विवाह किया है, राज किया है, फिर मैं तुम्हें राज सौंपकर प्रव्रज्या अंगीकार करना चाहता हूँ। अतः विवाह के लिए अपनी स्वीकृति दे दो और राज्य भी स्वीकार कर लो।" राजा वसुपूज्य ने कहा।

"पिताश्री पहले ऐसा होता आया है, इसलिये मैं भी वैसा ही करूँ, यह जरूरी नहीं है। दूसरे जब आप स्वयं संसार चक्र से छूट कर दीक्षाव्रत अंगीकार करना चाह रहे है तो फिर आप मुझे क्यों उस दलदल में फंसाना चाह रहे हैं। मेरा आग्रह है, विनती है कि आप मुझे दीक्षाव्रत ग्रहण करने की अनुमति प्रदान करने का कष्ट करें।" कुमार वासुपूज्य ने अपनी बात दृढ़ता से कही। इसके साथ ही उन्होंने पुनः कहा—"पिताश्री! आप पूर्व तीर्थंकरों के विवाह करने का उदाहरण देकर मुझे भी वैसा ही करने को कह रहे हैं तो सुनिए: उनकी आत्मा में मोहकर्म शेष रहा था, इस कारण उन्हें विवाह करना पड़ा। चूंकि मुझ में मोहकर्म अवशिष्ट नहीं है, इसलिये मुझे विवाह करने की आवश्यकता ही नहीं है। फिर ऐसी परम्परा के पालन के चक्कर में नहीं पड़ना चाहिए जो सांसारिक विषयों से सम्बन्धित हो और कर्मबंध बंधाने वाली हो। अतः आप परम्परा आदि के चक्कर में न पड़ें। मुझे दीक्षा की अनुमति प्रदान कर दें।"

अपने युवा पुत्र को दीक्षाव्रत ग्रहण करने के लिए अड़िग देख माता-पिता का दुःखी होना स्वाभाविक ही होता है। वृद्ध माता-पिता सांसारिक सुखों का उपभोग करें और युवा पुत्र दीक्षा ले ले या लेना चाहे, यह एक प्रकार की विडम्बना ही कही जाएगी किन्तु होनी को कोई टाल नहीं सकता। कुमार के दृढ़ संकल्प के सामने माता-पिता का हर प्रयास विफल ही रहा। अंततः बाध्य होकर उन्होंने अपने पुत्र वासुपूज्य को दीक्षा ग्रहण करने के लिए अनुमति प्रदान कर दी।

दीक्षा एवं केवलज्ञान :

लोकांतिक देवों ने धर्मतीर्थ के प्रवर्तन के लिए वासुपूज्य से निवेदन किया। कुमार वासुपूज्य ने उदारतापूर्वक वर्षीदान किया। वर्षीदान सम्पन्न होने पर वासुपूज्य ने छः सौ राजाओं के साथ चतुर्थ भक्त से दीक्षार्थ अभिनिष्क्रमण किया। फाल्गुन कृष्णा अमावस्या को शतभिषा नक्षत्र में समस्त पाप कर्मों का परित्यागकर श्रमण धर्म स्वीकार कर लिया। दूसरे दिन महापुर के राजा सुनन्द

के यहाँ भगवान् का परमान्न से प्रथम पारणा हुआ। देवों ने पंच-दिव्य की वृष्टि कर दान की महिमा प्रकट की।

दीक्षोपरांत भगवान् वासुपूज्य एक मास तक छद्मस्थ अवस्था में विचरण करते रहे। फिर उसी उद्यान में आकर पाटल वृक्ष के नीचे ध्यानस्थ हो गए। शुक्लध्यान के दूसरे चरण में चार घाति कर्मों की निर्जरा कर माघ शुक्ला द्वितीया को शतभिषा नक्षत्र के योग में चतुर्थभक्त से उन्होंने केवलज्ञान का उपार्जन किया। भगवान् सर्वज्ञ हो गये।

केवलज्ञान प्राप्ति के पश्चात् समवसरण में विराजकर भगवान् ने देव-दानव व मानवों की विशाल धर्मसभा में धर्म-देशना दी। अपनी धर्मदेशना में भगवान् ने दशविध धर्म का स्वरूप समझाया। भगवान् ने अपनी देशना में मोक्ष-मार्ग भी समझाया। जिससे प्रेरणा पाकर अनेक भव्य प्राणियों ने दीक्षाव्रत अंगीकार किया तो कई ने श्रावक धर्म स्वीकार किया। इस प्रकार भगवान् ने चतुर्विध संघ की स्थापना की और भाव तीर्थंकर कहलाये।

यहां से विहार कर भगवान् द्वारिका के निकट पधारे। भगवान् के पधारने की सूचना राजपुरुष ने वासुदेव द्विपृष्ट को दी। यह शुभ समाचार सुनकर वासुदेव ने सूचना लाने वाले को साढ़े बारह करोड़ मुद्राओं का दान दिया। ये भरत क्षेत्र में इस समय के दूसरे वासुदेव हुए।

धर्म-प्रभाव :

भगवान् वासुपूज्य का धर्मशासन भी सामान्य गृहस्थ से लेकर राजघराने तक व्याप्त था। छोटे-बड़े राजाओं के अतिरिक्त उस समय के वासुदेव द्विपृष्ठ और विजय बलदेव भी भगवान् से विशेष रूप से प्रभावित थे। द्विपृष्ठ ने भगवान् वासुपूज्य की वीतराग वाणी सुनकर सम्यक्त्व ग्रहण किया और विजय बलदेव ने श्रावक धर्म स्वीकार किया। कालान्तर मे विजय ने मुनिधर्म स्वीकार कर मोक्ष पद प्राप्त किया।

परिनिर्वाण :

केवली पर्याय में विचरण करते हुए भगवान् वासुपूज्य ने लाखों भव्यजनों का उद्धार करने के लिए उन्हें सचेष्ट किया। तत्पश्चात् अपना अंतिम समय निकट जानकर छः सौ मुनियों के साथ चम्पानगरी पधारे। यहां एक मास के अनशन व्रत के साथ शुक्लध्यान के चतुर्थ चरण में समस्त कर्म राशि का क्षय कर आषाढ़ शुक्ला चतुर्दशी को उत्तराभाद्रपद नक्षत्र में सिद्ध-बुद्ध और मुक्त हो गये। उन्होंने निर्वाण पद प्राप्त कर लिया।

धर्म-परिवार:

भगवान् वासुपूज्य का धर्म-परिवार इस प्रकार था :—

गणधर	६६
केवली	३,०००
मनःपर्यवज्ञानी	३,१००
अवधिज्ञानी	५,४००
चौदह पूर्वधारी	१,२००
वैक्रियलब्धिधारी	१०,०००
वादी	६,७००
साधु	७२,०००
साध्वी	१,०७,०००
श्रावक	२,१५,०००
श्राविका	४,३६,०००

□□□

१३ भगवान् विमलनाथ

सूकर

भगवान् वासुपूज्य के पश्चात् तेरहवें तीर्थंकर भगवान् विमलनाथ हुए।

पूर्वभव :

धातकी खण्ड की महापुरी नामक नगरी के राजा पद्मसेन धर्मपरायण और प्रजावत्सल थे। उनका यश चहुँ ओर व्याप्त था। उन्होंने अपने कर्त्तव्य से काफी ख्याति अर्जित कर ली थी। फिर अंतःप्रेरणा से उन्होंने आचार्य सर्वगुप्त की सेवा में उपस्थित होकर दीक्षाव्रत अंगीकार कर लिया। दीक्षोपरांत उत्कट साधना में तल्लीन हो गये। उन्होंने बीस स्थानकों की विशेष आराधना की। धर्मध्यान और शुक्लध्यान से कर्म निर्जरा कर उन्होंने तीर्थंकर नामकर्म गोत्र का उपार्जन किया। अंत समय में समाधिमरण प्राप्तकर वे आठवें देवलोक के महर्धिक विमान में देव रूप में उत्पन्न हुए।

जन्म एवं वंश :

अपने देवभव की आयुष्य पूर्ण होने पर च्यवकर राजा पद्मसेन का जीव वैशाख शुक्ला द्वादशी को उत्तरा भाद्रपद नक्षत्र में कंपिलपुर के राजा कृतवर्मा की रानी श्यामा की कुक्षि में उत्पन्न हुआ। उसी रात्रि में माता श्यामा ने मंगलकारी चौदह शुभ स्वप्न देखे। स्वप्नशास्त्रियों से स्वप्नों का फल ज्ञात होने पर राजा-रानी सहित सम्पूर्ण नगर में हर्ष और उल्लास का वातावरण छा गया। उचित आहार विहार से गर्भकाल पूर्ण कर माघ शुक्ला तृतीया को उत्तराभाद्रपद में चंद्र के योग में माता ने सुखपूर्वक बिना किसी पीड़ा के सुवर्णकांति वाले पुत्ररत्न को जन्म दिया।

चौसठ इंद्रों के साथ देवों ने भगवान् का जन्मोत्सव मनाया। राजा कृतवर्मा ने पूरे उत्साह के साथ पुत्र का जन्मोत्सव मनाया। राजा को जो भी व्यक्ति पुत्र-जन्म की बधाई देने आया, उसे राजकीय भोजनशाला में भोजन करवाया। याचकों को मनोवांछित दान दिया गया। बन्दियों को भी मुक्त किया गया। राज्य की प्रजा ने भी अपने राजकुमार का जन्मोत्सव धूमधाम से मनाया।

नामकरण :

नामकरण वाले दिन राजा कृतवर्मा ने अपने परिजनों तथा नगर के प्रतिष्ठित व्यक्तियों को आमंत्रित कर बताया कि जब से बालक माता के गर्भ में आया, माता तन-मन से निर्मल बनी रही। इस दृष्टि से बालक का नाम विमल रखा जाना उचित रहेगा। सभी उपस्थितों ने इस नाम पर अपनी स्वीकृति/सहमति प्रदान कर दी। अतः बालक का नाम विमल रखा गया।

गृहस्थ-जीवन एवं राज्य :

शैशव अवस्था से किशोरावस्था को पार कर विमल ने युवावस्था में प्रवेश किया। वे अत्यन्त पराक्रमशील व्यक्तित्व के स्वामी बन गए। उनमें एक हजार आठ गुण विद्यमान थे। उनके मन में सांसारिक भोगों के प्रति कोई रुचि नहीं थी। फिर भी उन्होंने माता-पिता के आदेश को स्वीकार करते हुए योग्य राजकन्याओं के साथ विवाह किया। कालान्तर में राजा कृतवर्मा ने अपने राज्य की बागडोर विमल को सौंपी और स्वयं दीक्षाव्रत स्वीकार कर मुनि बन गए।

राजा विमल ने कुशलतापूर्वक राज्य का संचालन किया। यह उनके पुण्यों का प्रताप ही कहा जायेगा कि उनके शासनकाल में न तो अतिवृष्टि हुई और न अनावृष्टि तथा महामारी के रूप में किसी रोग का आतंक भी नहीं हुआ। उनके शासनकाल में किसी प्रकार की अनहोनी घटना भी नहीं हुई। राज्य में पूर्ण रूप से शांति छाई रही और प्रजा सुखपूर्वक अपना जीवनयापन करती रही। प्रजा को किसी भी प्रकार का अभाव नहीं था।

मोहनीय कर्मों का क्षय हुआ, भोग कर्मों का अंत हुआ और सुसुप्त विरक्त भावना जागृत हुई। लोकांतिक देवों ने भी उनसे धर्मतीर्थ प्रवर्तन की विनती की। विमल ने राज्य अपने उत्तराधिकारी को सौंपा और वर्षीदान देना प्रारम्भ कर दिया।

दीक्षा एवं केवलज्ञान :

वर्षीदान सम्पन्न होने पर राजा विमल ने एक हजार राजाओं के साथ दीक्षार्थ अभिनिष्क्रमण किया। वे सहस्राम्रवन में पधारे और माघ शुक्ला चतुर्थी को उत्तराभाद्रपद नक्षत्र में षष्ठ भक्त की तपस्या के साथ समस्त पाप-कर्मों का त्यागकर उन्होंने दीक्षाव्रत अंगीकार कर लिया।

दूसरे दिन धान्यकोट नगर के राजा जय के यहाँ भगवान् का परमान्न से पारणा हुआ। देवों ने पंच दिव्य बरसा कर दान की महिमा प्रकट की।

पारणा होने के पश्चात् भगवान् विमलनाथ ने वहां से विहार कर दिया। भगवान् विमलनाथ दो वर्ष तक विचरण करते रहे। इस अवधि में उन्होंने कठोर

साधना की और अनेक प्रकार के परीषहों को भी समतापूर्वक सहन किया। दो वर्ष के पश्चात् वे पुनः कंपिलपुर के उद्यान में पधारे। जहां वे जम्बू वृक्ष के नीचे शुक्लध्यान में आरूढ़ हुए और पौष शुक्ला षष्ठी को चार घातिक कर्मों का क्षय कर केवलज्ञानी हो गये। उन्हें केवलज्ञान-केवलदर्शन हो गया। भगवान् सर्वज्ञ बन गए।

जब लोगों को भगवान् के केवलज्ञान उपलब्ध होने की जानकारी मिली तो चारों ओर हर्षोल्लास का वातावरण छा गया। केवलज्ञान महोत्सव मनाया गया। इस महोत्सव में देवता भी सम्मिलत हुए। देव निर्मित समवसरण में विराजकर भगवान् विमलनाथ ने अपनी धर्मदेशना की। आपकी देशना से अनेक व्यक्तियों को विरक्ति हुई और उन्होंने दीक्षाव्रत अंगीकार कर लिया। अनेक व्यक्तियों ने श्रावक धर्म स्वीकार किया। इस प्रकार भगवान् ने चतुर्विध संघरूप तीर्थ की स्थापना की और भाव तीर्थंकर कहलाये।

धर्म-प्रभाव :

भगवान् विमलनाथ ने यहां से विहार कर दिया और ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए, अपनी देशना से असंख्य जनों का उद्धार करते हुए द्वारिका पधारे। यहां समवसरण में विराज कर भगवान् ने धर्मदेशना दी। भगवान् के आगमन की सूचना यहां के स्वयंभू वासुदेव को भी मिली। सूचना देने वाले को उसने साढ़े बारह करोड़ स्वर्ण मुद्राओं से पुरस्कृत किया। स्वयंभू वासुदेव अपने ज्येष्ठ भ्राता भद्र बलदेव के साथ वंदन करने गया। भगवान् की पीयूषवर्षी वाणी सुनकर स्वयंभू ने सम्यक्त्वधारण किया और भद्र बलदेव ने श्रावक धर्म स्वीकार किया।

कालांतर में वासुदेव स्वयंभू के देहावसान के पश्चात् भद्र बलदेव को विरक्ति हुई और उसने दीक्षाव्रत अंगीकार कर लिया। इससे प्रमाणित होता है कि भगवान् विमलनाथ का प्रभाव जन सामान्य से लेकर जननायकों पर समान रूप से था।

परिनिर्वाण :

केवली के रूप में भगवान् ने जन-जन को सत्य मार्ग का अनुसरण करने की प्रेरणा दी। जब भगवान् ने जाना कि अब उनका आयुष्य समाप्त होने वाला है तो वे छः सौ मुनियों के साथ सम्मेतशिखर पर पधारे और आजीवन अनशन ग्रहण कर लिया। एक मास के अनशन के अंत में शेष चार अघाति कर्मों की निर्जराकर भगवान् ने आषाढ़ कृष्णा सप्तमी को पुष्य नक्षत्र में अपनी देह का

त्याग किया। वे सिद्ध-बुद्ध और मुक्त हो गये। उन्होंने निर्वाण पद प्राप्त कर लिया। भगवान् की कुल आयु साठ लाख वर्ष की थी।

धर्म-परिवार :

भगवान् विमलनाथ के धर्म-परिवार का विवरण इस प्रकार है :—

गणधर	५६
केवली	५,५००
मनःपर्यवज्ञानी	५,५००
चौदह पूर्वधारी	१,१००
अवधिज्ञानी	४,८००
वैक्रियलब्धिधारी	९,०००
वादी	३,२००
साधु	६८,०००
साध्वी	१,००८,८००
श्रावक	२,८८,०००
श्राविका	४,९४,०००

□□□

१४ भगवान् अनन्तनाथ

बाज

भगवान् अनन्तनाथ चौदहवें तीर्थंकर हुए।

पूर्वभव :

धातकी खण्ड की अरिष्टा नगरी के राजा पद्मरथ शूरवीर और पराक्रमी थे। उन्होंने अपने समस्त विरोधी राजाओं पर अपनी विजय पताका फहरा दी थी किन्तु मोक्ष प्राप्ति के लिए की जाने वाली साधना के समक्ष उन्होंने अपनी इस सफलता को नगण्य ही समझा। वैराग्य भाव जागृत होने पर राजा पद्मरथ ने चित्तरक्ष गुरु की सेवा में पहुंच कर दीक्षाव्रत अंगीकार कर तप संयम की विशिष्ट साधना में लीन हो गए। अपनी कठोर साधना के द्वारा उन्होंने तीर्थंकर नामकर्म गोत्र का उपार्जन किया और अंत समय में देह त्याग कर दसवें स्वर्ग में ऋद्धिमान देव हुए।

जन्म एवं वंश :

अयोध्या नगरी में महाराज सिंहसेन का राज था। इनकी महारानी का नाम सुयशा था। देव भव की आयुष्य पूर्ण कर राजा पद्मरथ का जीव स्वर्ग से च्यवकर श्रावण कृष्णा सप्तमी को रेवती नक्षत्र में माता सुयशा की कुक्षि में गर्भ रूप से उत्पन्न हुआ। उसी रात्रि में माता सुयशा ने चौदह महामंगलकारी स्वप्न देखे। इन स्वप्नों के प्रभाव से सम्पूर्ण नगर में हर्षोल्लास छा गया। जब स्वप्नशास्त्रियों से स्वप्नों का फल ज्ञात हुआ तो प्रसन्नता असीम हो गई।

महारानी सुयशा सावधानीपूर्वक गर्भ की पालना करने लगी। गर्भकाल पूर्ण हुआ और वैशाख कृष्णा त्रयोदशी को रेवती नक्षत्र के सुयोग में माता सुयशा ने सुखपूर्वक पुत्र-रत्न को जन्म दिया। देवों, दानवों और मानवों ने जन्म की खुशियां मनाई। महाराज सिंहसेन ने याचकों को भरपूर दान दिया और पूर्ण उत्साह, उमंग एवं उल्लास के साथ अपने पुत्र का जन्मोत्सव मनाया।

नामकरण :

नामकरण वाले दिन महाराज सिंहसेन ने बताया कि जब यह बालक अपनी माता के गर्भ में था तब उनसे भी शक्तिशाली राजा ने अपनी विशाल सेना लेकर उन पर आक्रमण किया था। उस विशाल शक्तिशाली सेना को न केवल सरलता से पराजित कर दिया वरन् उनकी सेना का उत्साह द्रष्टव्य था।

उस समय उन्होंने भी अपने आपको अनन्त बलशाली अनुभव किया। इसलिये बालक का नाम अनन्त रखा जाना उचित प्रतीत होता है। इस अवसर पर वहां उपस्थित सभी महानुभावों ने उनका समर्थन किया। इस प्रकार बालक का नाम अनन्त कुमार रखा गया।

गृहस्थ-जीवन एवं राज्य :

कुमार अनन्त ने जब तरुणावस्था में प्रवेश किया तो माता-पिता ने उनके विवाह के सम्बन्ध में विचार किया और फिर युवा एवं रूपवती राजकुमारियों के साथ उनका विवाह कर दिया। अनन्तकुमार तो विवाह-बंधन में बंधना नहीं चाहते थे किन्तु पिता के आग्रह के कारण उन्हें विवाह के लिए स्वीकृति देनी पड़ी थी। कालांतर में महाराज सिंहसेन ने राज्य का भार भी अनन्त को सौंप दिया और स्वयं दीक्षित होकर साधना में लीन हो गए।

राजा अनन्त ने कुशलतापूर्वक अपने राज्य का संचालन किया। उनके राज्य की व्यवस्थाएं धर्मनीति द्वारा संचालित एवं नियंत्रित होती थीं। प्रजा पूर्ण रूप से सुखी एवं संतुष्ट थी। इस कारण राजा अनंत अपनी प्रजा में काफी लोकप्रिय थे। भोग कर्म की समाप्ति पर राजा अनन्त के हृदय में विरक्ति के भाव जागृत हुए। इसी समय लोकांतिक देवों ने धर्मप्रवर्तन के लिए विनती की। अपना राज्य अपने उत्तराधिकारी को सौंप कर आपने दीक्षाव्रत अंगीकार करने का संकल्प लिया। इसके पूर्व आपने वर्षीदान भी दिया।

दीक्षा एवं केवलज्ञान :

वर्षीदान सम्पन्न कर अनन्तभूप ने वैशाख कृष्णा चतुर्दशी को रेवती नक्षत्र में एक हजार राजाओं के साथ दीक्षार्थ अभिनिष्क्रमण किया और सम्पूर्ण पाप-कर्मों का त्याग कर मुनिधर्म की दीक्षा ग्रहण कर ली। दीक्षा लेते समय आपको बेले की तपस्या थी।

दीक्षोपरांत दूसरे दिन बर्द्धमानपुर के राजा विजय के यहाँ भगवान् का परमान्न से पारणा हुआ। देवों ने दान की महिमा प्रकट की।

दीक्षा के पश्चात् भगवान् तीन वर्ष तक छद्मस्थ अवस्था में ग्रामानुग्राम विचरण करते रहे। फिर विचरण करते हुए भगवान् सहस्राम्रवन पधारे और अशोक वृक्ष के नीचे ध्यान में लीन हो गए। शुक्लध्यान की क्षपक श्रेणी में भगवान् ने चार घाति-कर्मों का क्षय किया और वैशाख कृष्णा चतुर्दशी को रेवती नक्षत्र में अष्टम भक्त की तपस्या से केवलज्ञान का उपार्जन किया। भगवान् सर्वज्ञ हो गए।

देव-दानवों-मानवों की सभा में समवसरण में विराजकर भगवान् ने धर्म देशना दी। भगवान् की देशना से प्रभावित होकर अनेक व्यक्तियों ने दीक्षाव्रत

ग्रहण किया और अनेक ने श्रावक धर्म स्वीकार किया। इस प्रकार भगवान् ने चतुर्विध संघ तीर्थ की स्थपना की और आप तीर्थंकर कहलाये।

धर्मप्रभाव :

भगवान् का प्रभाव झोपड़ी से राजमहल तक था। उस समय पुरुषोत्तम नाम के वासुदेव और सुप्रभ नाम के बलदेव हुए। भगवान् अनन्तनाथ ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए जब द्वारिका पधारे और जब भगवान् के पदार्पण की सूचना वासुदेव पुरुषोतम को मिली तो उसने उसी समय वहीं खड़े होकर सभक्ति भाव वंदना की और अपने ज्येष्ठ भ्राता सुप्रभ बलदेव को लेकर भगवान् की सेवा में पहुँचा। भगवान् की धर्मदेशना से प्रभावित होकर वासुदेव ने सम्यक्त्व स्वीकार कर लिया। परिणामस्वरूप उसकी क्रूरता और कठोरता नष्ट हो गई। बलदेव सुप्रभ ने पहले तो श्रावक धर्म स्वीकार किया और बाद में विरक्त होकर मुनिधर्म अंगीकार कर लिया। अंत में उसने मोक्ष पद प्राप्त किया।

परिनिर्वाण :

भगवान् का कुल आयुष्य तीस लाख वर्ष था। अपना अंतिम समय निकट जानकर भगवान् अनंतनाथ एक हजार साधुओं के साथ सम्मेतशिखर पधारे और एक मास के अनशन के पश्चात् चैत्र शुक्ला पंचमी को रेवती नक्षत्र में समस्त कर्मों की निर्जरा कर सिद्ध-बुद्ध और मुक्त हो गए। उन्होंने निर्वाण पद प्राप्त कर लिया।

धर्म परिवार :

भगवान् अनन्तनाथ के धर्म परिवार का विवरण इस प्रकार है—

गणधर	५०
केवली	५,०००
मनःपर्यवज्ञानी	४,५००
अवधिज्ञानी	४,३००
चौदह पूर्वधारी	९००
वैक्रियलब्धिधारी	८,०००
वादी	३,२००
साधु	३६,०००
साध्वी	३२,०००
श्रावक	२,०६,०००
श्राविका	४,१४,०००

□□□

१५ भगवान् धर्मनाथ

वज्र

भगवान् धर्मनाथ पन्द्रहवें तीर्थंकर हुए।

पूर्वभव :

धातकी खण्ड के पूर्व विदेह में भद्दिलपुर नामक राज्य था। भद्दिलपुर के राजा सिंहरथ पराक्रमी तो थे ही, धर्म के प्रति भी दृढ़ आस्थावान थे। विशाल साम्राज्य के स्वामी होते हुए भी वे निजानन्द की खोज में रहते थे और सांसारिक सुखोपभोग की वस्तुओं के प्रति अनासक्त थे। अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए उन्होंने संसार से विरक्त होकर विमलवाहन मुनि की सेवा में पहुँच कर दुर्लभतम चारित्रधर्म ग्रहण कर लिया। कठोर तप-संयम की साधना करते हुए उन्होंने तीर्थंकर नाम-कर्म का उपार्जन किया।

दीर्घकाल तक साधना करने के पश्चात् अंत में उन्होंने समाधिपूर्वक अपनी आयुष्य पूर्णकर देह का त्याग किया और वैजयन्त विमान में अहमिन्द्र रूप में उत्पन्न हुए।

जन्म एवं वंश :

देवभव की आयुष्य पूर्ण होने पर सिंहरथ का जीव वैजयन्त विमान से च्युत हुआ और वैशाख शुक्ला सप्तमी को पुष्य नक्षत्र के सुयोग में रत्नपुर के महाप्रतापी राजा भानु की महारानी सुव्रता की कुक्षि में गर्भ रूप में उत्पन्न हुआ। उसी रात्रि में महारानी सुव्रता ने महामंगलकारी चौदह महास्वप्न देखे। स्वप्न देखने से रानी सुव्रता का रोम-रोम पुलकित हो उठा। उसने राजा भानु को स्वप्नों का विवरण कह सुनाया। इससे राजा भानु भी अत्यधिक हर्षित हुए। प्रातःकाल स्वप्नशास्त्रियों से स्वप्नों का फल जानकर उनकी प्रसन्नता असीम हो गई। रानी सुव्रता ने सावधानीपूर्वक गर्भ का पालन किया और गर्भकाल पूर्ण होने पर माघ शुक्ला तृतीया को पुष्य नक्षत्र में माता सुव्रता ने पीड़ा रहित सुखपूर्वक पुत्ररत्न को जन्म दिया। देवेन्द्रों और राजा भानु ने हर्ष, उल्लास और उमंग के साथ पुत्र का जन्मोत्सव मनाया।

नामकरण :

नामकरण वाले दिन राजा भानु ने अपने परिजनों और नगर के प्रतिष्ठित व्यक्तियों को आमंत्रित कर बताया कि जब से बालक अपनी माता के गर्भ में आया तब से माता को धर्म-साधना के उत्तम दोहद उत्पन्न हुए और उसकी भावना सदैव धर्ममय बनी रही। इस दृष्टि से बालक का नाम धर्म रखा जाना उचित प्रतीत होता है। सभी उपस्थित महानुभावों ने राजा के प्रस्ताव का हृदय से समर्थन किया और इस प्रकार बालक का नाम धर्मकुमार रखा गया।

गृहस्थ जीवन एवं राज्य :

बाल सुलभ क्रीड़ा करते हुए धर्म ने युवावस्था में प्रवेश किया। पिता राजा भानु ने जब देखा कि उनका पुत्र युवा हो गया है तो उन्होंने अपने पुत्र का विवाह करना चाहा। कुमार धर्म इस बंधन में बंधना तो नहीं चाहते थे किन्तु माता-पिता की आज्ञा को स्वीकार कर लिया और राजा भानु ने अनेक रूपवती युवा राजकुमारियों के साथ उनका विवाह कर दिया। कुमार धर्म अनासक्त भाव से कर्त्तव्य निर्वाह समझकर गृहस्थ-जीवन व्यतीत करने लगे। कालान्तर में पिता राजा भानु के आग्रह पर उन्होंने राज्य का भार भी स्वीकार कर लिया। पिता राजा भानु राज्य सौंप कर दीक्षित हो गए और साधना में लीन हो गए। राजा धर्म ने न्यायपूर्वक और वात्सल्य भाव से राज किया। उनका राज धर्म राज्य था। उनके शासन काल में जनता पूर्ण रूप से सुखी थी। प्रजा में स्वार्थ भावना का अभाव था। सब एक दूसरे के सहयोगी थे। कहीं भी किसी भी प्रकार का उन्माद दिखाई नहीं देता था।

भोगकर्म समाप्त हुए और राजा धर्म ने अपना राज्य अपने उत्तराधिकारी को सौंपा। इसी समय लोकांतिक देवों ने धर्म-प्रवर्तन की प्रार्थना की। भगवान् ने वर्षीदान देना प्रारम्भ किया।

दीक्षा एवं केवलज्ञान :

वर्षीदान सम्पन्न कर राजा धर्म ने माघ शुक्ला त्रयोदशी को पुष्य नक्षत्र में नागदत्ता शिविका में एक हजार राजाओं के साथ दीक्षार्थ अभिनिष्क्रमण किया। बेले की तपस्या के साथ भगवान् ने समस्त पाप-कर्मों का परित्याग कर दीक्षा ग्रहण कर ली।

दूसरे दिन सोमनस नगर के राजा धर्मसिंह के यहाँ परमान्न से भगवान् का पारणा हुआ। इस अवसर पर देवताओं ने पंच-दिव्य प्रकट कर दान की महिमा बताई। इसके पश्चात् भगवान् ने वहाँ से विहार कर दिया।

भगवान् धर्मनाथ दो वर्ष तक छद्मस्थावस्था में विचरण करते रहे। इस अवधि में उन्होंने कठोर तप-साधना की और अनेक परीषह समता भाव से सहन किये। दो वर्ष पश्चात् भगवान् लौटकर अपने दीक्षा स्थान प्रकांचन उद्यान में पधारे। भगवान् वहाँ दधिपर्ण वृक्ष के नीचे ध्यानस्थ हो गए। शुक्लध्यान में क्षपक श्रेणी तक पहुँच गये। चार घातिक कर्मों की निर्जरा हुई और भगवान् ने केवलज्ञान का उपार्जन कर लिया। भगवान् सर्वज्ञ हो गये। देवताओं ने भगवान् का केवलज्ञान महोत्सव मनाया और भव्य समवसरण की रचना की जिसमें विराजकर भगवान् ने विशाल धर्म-सभा को सम्बोधित करते हुए अपनी प्रथम धर्म-देशना दी। अपनी धर्म-देशना में भगवान् ने लौकिक और लोकोत्तर मार्ग को भिन्न-भिन्न बतलाते हुए लोकोत्तर मार्ग का अनुसरण करने का उपदेश दिया। आपके उपदेश से प्रेरित होकर अनेक व्यक्तियों ने चारित्रधर्म ग्रहण किया तो अनेक ने श्रावक धर्म स्वीकार किया। इस प्रकार भगवान् ने चतुर्विध संघ तीर्थ की स्थापना की और भाव तीर्थंकर कहलाये।

धर्मप्रभाव :

केवली भगवान् सुदीर्घ अवधि तक ग्रामानुग्राम विचरण करते रहे और अपनी पीयूष-वर्षी वाणी से असंख्य प्राणियों का कल्याण किया। भगवान् का प्रभाव अतिव्यापक था। रंक से लेकर राजा तक आपके सम्मुख नतमस्तक रहते थे। भगवान् विचरण करते हुए किसी समय अश्वपुर पधारे और वहाँ के उद्यान में विश्राम करने की दृष्टि से विराज गए। अश्वपुर राज्य का स्वामी तत्कालीन वासुदेव पुरुषसिंह था, इस समय का बलदेव सुदर्शन था। राज कर्मचारी ने भगवान् के आगमन की शुभ सूचना वासुदेव पुरुषसिंह को दी। इस सूचना को पाकर वह अत्यन्त प्रसन्न हुआ। उसने उसी समय वहीं खड़े होकर भगवान् की भाव वंदना की। संदेशवाहक कर्मचारी को पुरस्कार दिया और अपने भ्राता बलदेव सुदर्शन को साथ लेकर भगवान् की सेवा में पहुँचा। भगवान् के दर्शन किये, वंदना की तो शांति की अनुभूति हुई। इस अवसर पर भगवान् ने धर्म-देशना भी दी। जिसके प्रभाव से वासुदेव पुरुषसिंह ने सम्यक्त्व ग्रहण किया और उसके भ्राता बलदेव सुदर्शन ने श्रावक धर्म स्वीकार किया। इस विवरण से भगवान् धर्मनाथ का सर्वव्यापी प्रभाव परिलक्षित होता है।

परिनिर्वाण :

भगवान् का कुल आयुष्य दस लाख वर्ष था। अपना अंतिम समय निकट जानकर भगवान् धर्मनाथ आठ सौ मुनियों के साथ सम्मेतशिखर पर

पधारे और एक मास के अनशन से ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी को पुष्य नक्षत्र में शेष समस्त कर्मों का क्षय कर सिद्ध-बुद्ध मुक्त हो गये। उन्होंने निर्वाण पद प्राप्त कर लिया।

धर्म-परिवार :

भगवान् धर्मनाथ के धर्म-परिवार का विवरण इस प्रकार है—

गणधर	४३
केवली	४५००
मनःपर्यवज्ञानी	४५००
अवधिज्ञानी	३६००
चौदह पूर्वधारी	९००
वैक्रियलब्धिधारी	८,०००
वादी	३,८००
साधु	६४,०००
साध्वी	६३,४००
श्रावक	२,४०,०००
श्राविका	४,१३,०००

भगवान् धर्मनाथ के पश्चात् और सोलहवें तीर्थंकर भगवान् शांतिनाथ के मध्य चक्रवर्ती मघवा हुआ।

□□□

१६ भगवान् शान्तिनाथ

मृग

भगवान् धर्मनाथ के पश्चात् सोलहवें तीर्थंकर भगवान् शांतिनाथ हुए। ऐसी मान्यता है कि भगवान् शांतिनाथ की स्तुति करने से प्राणी रोगरहित हो जाता है तथा उसे परमशांति का अनुभव होता है। चिह्न :

पूर्वभव :

भगवान् शांतिनाथ ने अनेक भवों में से दसवें भव में तीर्थंकर नाम कर्म का उपार्जन किया। उनके पूर्वभवों का उल्लेख कुछ इस प्रकार मिलता है—

पहला भव	- राजा श्रीषेण	-	भरत क्षेत्र में रत्नपुर
दूसरा भव	- यौगलिक	-	जम्बूद्वीप में उत्तरकुरु
तीसरा भव	- देव	-	सौधर्म प्रथम देवलोक
चौथा भव	- राजा अमिततेज	-	रथनूपुर-वैताढ्यगिरि-उत्तर श्रेणी
पांचवाँ भव	- देव	-	प्राणत देवलोक
छठा भव	- बलदेव अपराजित	-	शुभा-जम्बूद्वीप महाविदेह
सातवां भव	- इन्द्र	-	अच्युत देवलोक
आठवां भव	- वज्रायुध	-	रत्नसंचया-जम्बूद्वीप महाविदेह
नौवां भव	- अहमिन्द्र	-	तीसरा ग्रैवेयक
दसवां भव	- मेघरथ	-	पुण्डरीकिणी नगरी
ग्यारहवां भव	- अहमिन्द्र	-	सर्वार्थसिद्ध विमान

आठवें एवं दसवें भव का विवरण यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

पूर्व विदेह के मंगलावती विजय की रत्नसंचया नामक नगरी पर महाराज क्षेमंकर का राज था। महाराज क्षेमंकर की महारानी का नाम था रत्नमाला। इसी महारानी रत्नमाला की कुक्षि से वज्रायुध नामक पुत्ररत्न का जन्म हुआ। युवा होने पर वज्रायुध का विवाह लक्ष्मीवती ठेत्री के साथ हुआ। सुदीर्घ काल तक ये सुखोपभोग करते रहे और लक्ष्मीवती की कुक्षि से एक पुत्र का जन्म हुआ जिसका नाम सहस्रायुध रखा गया।

एक बार देवताओं के समक्ष इन्द्र ने वज्रायुध के सम्यक्त्व की प्रशंसा की। समस्त देवताओं ने तो इन्द्र की बात मान ली किन्तु चित्रचूल नामक देव ने कहा कि बिना परीक्षा किये वह इस बात को स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं है। इतना कहने के साथ ही वह चित्रचूल देव राजा क्षेमंकर की सभा में

आया और अपनी बात इस प्रकार प्रकट की—"मैं आत्मा, परलोक और पुण्य-पाप आदि कुछ नहीं मानता, ऐसा कुछ है भी नहीं। यह केवल अंध विश्वास है। इसके अतिरिक्त कुछ नहीं है।"

वज्रायुध ने जब यह सुना तो उन्होंने प्रतिवाद करते हुए कहा—"मान्यवर! आप जो कुछ मानते हैं वह सत्य नहीं है सर्वप्रथम तो यह कि आपको जो भव्य दिव्य पद और वैभव मिला हुआ है वह आपके द्वारा पूर्व-जन्म में किये गए कर्मों का ही फल है। यदि आपने अपने पूर्वजन्म में अच्छे-पुण्य कर्म नहीं किये होते तो आपको यह सब कुछ नहीं मिला होता जो अभी मिला हुआ है। पुण्य-पाप, लोक, परलोक नहीं होते तो आपको जो ऋद्धि अभी मिली हुई है, वह भी नहीं मिली होती। यदि आपको मेरे कथन पर विश्वास न हो तो अवधिज्ञान से देखकर इसकी सत्यता प्रमाणित की जा सकती है।"

वज्रायुध की बात का देव के पास कोई उत्तर नहीं था। वह संतुष्ट हो गया। उसने कहा—"मैं आपकी दृढ़ सम्यक्त्व निष्ठा से प्रसन्न हूँ। आप जो चाहो मांग सकते हो।"

"मेरी मांग तो यह है कि आप भी सम्यक्त्व का पालन करें।" वज्रायुध ने कहा।

देव वज्रायुध की निर्लोभवृत्ति देखकर और प्रसन्न हुआ। उसने वज्रायुध को दिव्य-अलंकार भेंट किये और चला गया। इसने वज्रायुध के सम्यक्त्व की भूरि-भूरि प्रशंसा की।

किसी समय वज्रायुध क्रीडारत थे। उन्हें क्रीड़ा करते देख उनके पूर्व भव के एक शत्रु ने उन पर पर्वत गिराया और उन्हें नागपाश के बंधन में कस लिया। वज्रायुध तो प्रबल पराक्रमी थे, अपने वज्रऋषभ-नाराच संहनन के कारण उन्होंने एक ही मुष्टि प्रहार में पर्वत को चूर-चूर कर दिया और नागपाश के बंधन को भी तोड़कर फेंक दिया।

महाराज क्षेमंकर ने वज्रायुध को सत्ता सौंपी और दीक्षित होकर अपनी कठोर साधना से केवलज्ञान प्राप्त कर भाव-तीर्थंकर पद प्राप्त किया। राजा वज्रायुध जो भावी तीर्थंकर थे, ने जब देखा कि उनकी आयुध शाला में चक्ररत्न की उत्पत्ति हुई है तो उन्होंने छः खण्ड पृथ्वी पर विजय प्राप्त कर सार्वभौम सम्राट का पद प्राप्त कर अपने पुत्र सहस्रायुध को युवराज पद पर प्रतिष्ठित किया। कालांतर में वज्रायुध ने एक विद्याधर के प्राणों की रक्षा भी की। समाधिमरण प्राप्त कर वज्रायुध का जीव ग्रैवेयक में देव रूप मे उत्पन्न हुआ।

देव भव की आयुष्य पूर्ण कर वज्रायुध के जीव ने पुण्डरीकिणी नगरी के राजा घनरथ की रानी प्रियमती की कुक्षि में गर्भ रूप में उत्पन्न हुए। गर्भकाल पूर्ण होने पर रानी प्रियमती ने पुत्ररत्न को जन्म दिया जिसका नाम मेघरथ रखा गया। राजा घनरथ की अन्य रानी मनोरमा की कुक्षि से भी पुत्ररत्न का जन्म हुआ, जिसका नाम दृढ़रथ रखा गया।

मेघरथ के युवा होने पर पिता राजा घनरथ ने उनका विवाह सुमंदिरपुर के राजा की सुपुत्री के साथ किया। मेघरथ स्वभाव से दयालु थे। वे परमपराक्रमी और साहसी भी थे। अपने पुत्र मेघरथ को सर्वथा योग्य जानकर और स्वयं के वैराग्यभाव जागृत होने पर उन्होंने मेघरथ को राज्य सौंपा और दीक्षा ग्रहण कर ली। राजा मेघरथ सत्तासुख प्राप्त करने के पश्चात् भी धर्मध्यान में संलग्न बना रहा। एक दिन की बात है, राजा मेघरथ व्रत-ग्रहण कर पौषध शाला में बैठे थे। तभी एक कबूतर कहीं से आकर उनकी गोद में आ गिरा। कबूतर अत्यन्त भयभीत था और वह कांप रहा था। वह राजा मेघरथ की ओर याचना भरी दृष्टि से देख रहा था। मानो वह अभयदान मांग रहा हो। राजा मेघरथ ने उस कबूतर पर अपना हाथ फेरते हुए उसे आश्वस्त किया कि वह अब निर्भय रहे।

कुछ ही देर के बाद वहाँ एक बाज आया और उसने राजा मेघरथ से अपने शिकार कबूतर की मांग की। राजा मेघरथ ने कहा कि कबूतर उनकी शरण में आया है, वह उसे लौटाने में असमर्थ हैं। साथ ही उन्होंने कहा— "अपना पेट तू किसी अन्य वस्तु से भी भर सकता है। कबूतर को मारने से तुझे क्या मिलने वाला है? जिस प्रकार तुझे अपने प्राण प्रिय हैं उसी प्रकार इसे भी अपने प्राण प्रिय हैं। अच्छा यही है कि तुम अपने भोजन की व्यवस्था अन्यत्र जाकर करो।"

"राजन! मैं कबूतर के ताजे मांस के बिना जीवित नहीं रह सकता। आप तो एक को मार कर दूसरे को बचाने की बात कर रहे हैं। मैं ताजे मांस के बिना नहीं रह सकता। यदि आप इसे बचाना ही चाहते हैं और धर्मात्मा हैं तो फिर मुझे भी बचाइये।" बाज ने कहा।

"तुम अगर ताजे मांस के बिना जीवित नहीं रह सकते हो तो मैं तुम्हें अपना माँस देता हूँ। तुम उसे खाकर कबूतर को छोड़ दो।" राजा मेघरथ ने कहा।

बाज राजा की बात पर सहमत हो गया। उसी समय तराजू मंगवाई गई। तराजू के एक पलड़े में कबूतर को रखा गया और दूसरे पलड़े में

राजा मेघरथ अपना माँस काट-काट कर रखने लगे। इस समय तक नगर के काफी लोग एकत्र हो चुके थे। वे अपने राजा का अद्भुत साहस देखकर दाँतों तले अंगुली दबाकर आश्चर्य प्रकट कर रहे थे। उधर राजा के परिवार में शोक छा गया था। अपने शरीर का काफी माँस चढ़ाने के उपरांत भी कबूतर के बराबर नहीं हुआ तो राजा को आश्चर्य हुआ और वह स्वयं ही प्रसन्नतापूर्वक तराजू के पलड़े पर बैठ गया। राजा के इस करुणा भाव, श्रद्धा और त्याग को देखकर वहाँ उपस्थित जन समूह वाह-वाह, धन्य हैं धन्य हैं कह उठा। बाज रूपी देव भी राजा की अडिग श्रद्धा और अनुपम त्याग को देखकर गद्‌गद हो गया। वह अपने दिव्यरूप में प्रकट हुआ और राजा मेघरथ की हृदय से भूरी-भूरी प्रशंसा करते हुए बोला—"महाराज मेघरथ आप धन्य हैं। आपकी करुणा, श्रद्धा और भक्ति अद्वितीय है। आपके सम्बन्ध में जैसा इन्द्र ने कहा था मैंने आपको उससे भी अधिक पाया। मुझे खेद है कि मैंने इन्द्र की बात पर विश्वास न करके आपको कष्ट देने चला आया। मुझे क्षमा करें।"

इतना कहकर देव अपने स्थान पर चला गया।

कुछ समयोपरांत राजा मेघरथ ने पौषधशाला में पुनः अष्टम तप किया। उस समय राजा ने जीव-दया के विशेष प्रयासों से महान पुण्यार्जन किया।

ईशानेन्द्र ने अपने स्थान से इन्हें नमन कर इनकी प्रशंसा की। इन्द्राणियों को ईशानेन्द्र की बात पर विश्वास नहीं हुआ और उन्होंने मेघरथ को ध्यान साधना से विचलित करने के लिए अनेक परीषह दिये। राजा मेघरथ परीषहों में भी अविचलित बने रहे। जब सूर्योदय होने को आया और देवियाँ अपने प्रयासों में सफल नहीं हो पाई तो वे मेघरथ को नमन कर स्व-स्थान पर चल पड़ी।

सूर्योदय हुआ राजा मेघरथ ने संयम व्रत अंगीकार करने का संकल्प कर अपने पुत्र को सिंहासन पर बैठाया और महामुनि घनरथ की सेवा में पहुँच गये। वहाँ अपने अनेक साथियों के साथ उन्होंने दीक्षा व्रत अंगीकार कर लिया। प्राणि-दया का पुण्य तो पहले से ही संचित किया हुआ था। दीक्षोपरांत तप-संयम की आराधना कर कर्म-क्षय कर उन्होंने तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन किया।

अंत समय में अनशनपूर्वक अपनी देह का त्याग कर सर्वार्थसिद्ध विमान में देव रूप में उत्पन्न हुए।

जन्म एवं वंश :

देव भव की आयुष्य पूर्ण हुई और मेघरथ का जीव सर्वार्थसिद्ध विमान से च्युत होकर भाद्रपद कृष्णा सप्तमी को भरणी नक्षत्र में हस्तिनापुर के राजा विश्वसेन की महारानी अचिरा की कुक्षि में उत्पन्न हुआ। गर्भधारण वाली उसी रात्रि में महारानी अचिरा ने महामंगलकारी चौदह महास्वप्न देखे। रानी का रोम-रोम पुलकित हो उठा। राजा विश्सेन भी स्वप्नों का विवरण सुनकर हर्षित हुए। स्वप्नशास्त्रियों से स्वप्नों का फल जानकर सम्पूर्ण राजमहल और फिर नगर तथा राज्य में हर्षोल्लास की लहर व्याप्त हो गई। गर्भकाल में महारानी ने उचित आहार-विहार के प्रति पूरी-पूरी सावधानी रखी। गर्भकाल पूर्ण हुआ और ज्येष्ठ कृष्णा त्रयोदशी को भरणी नक्षत्र में मध्यरात्रि के समय माता महारानी अचिरा ने बिना किसी पीड़ा के कांचन-वर्णीय पुत्ररत्न को जन्म दिया। उनके जन्म से सम्पूर्ण लोक प्रकाशमान हो गया। नारकीय जीवों को भी क्षण-भर के लिए विराम मिला। देवताओं ने सर्वप्रथम भगवान् का जन्मोत्सव मनाया। राजा विश्वसेन ने और राज्य की प्रजा ने राजकुमार का जन्मोत्सव पूर्ण उल्लास उमंग और हर्ष के साथ मनाया। याचकों को राजा द्वारा मनोवांछित दान दिया गया। बन्दियों को मुक्त किया गया।

नामकरण :

नामकरण वाले दिन राजा विश्वसेन ने बताया कि उनके राज्य में महामारी का प्रकोप फैला हुआ था। जनता उससे भयग्रस्त थी। महामारी को शांत करने का कोई भी उपाय सफल नहीं हो पा रहा था। जब बालक माता के गर्भ में आया तब महामारी का प्रकोप शांत होने लगा और एक दिन माता रानी अचिरा ने अपने महल पर चढ़कर चारों ओर दृष्टिपात किया तो महामारी का प्रकोप शांत हो गया। इस दृष्टि से बालक का नाम शांति रखा जाना उचित प्रतीत होता है। वहाँ उपस्थित सभी महानुभावों ने इस नाम पर अपनी सहमति व्यक्त की।

गृहस्थ-जीवन और राज्य :

राजकुमार शांति जब युवा हुए तो पिता राजा विश्वसेन ने अनेक सुन्दर एवं युवा राजकुमारियों के साथ उनका विवाह करवा दिया। फिर कुछ समयोपरांत उन्होंने युवराज शांति को राज्य की बागडोर सौंप कर दीक्षित हो गये और साधना में लीन हो गये।

भोग कर्म अवशेष जानकर राजा शांति अपने कर्तव्य का निर्वहन करने लगे। उनकी रानी यशोमती की कुक्षि से दृढ़रथ के जीव ने पुत्ररत्न के रूप

में जन्म लिया। उन्होंने उसका नाम चक्रायुध रखा। पच्चीस हजार वर्ष तक वे मांडलिक राजा के रूप में राज करते रहे। फिर किसी समय उनकी आयुध शाला में चक्ररत्न उत्पन्न हुआ। चक्ररत्न के प्रभाव से राजा शांति ने षट्खण्ड पृथ्वी पर विजय प्राप्त कर चक्रवर्ती पद प्राप्त किया। पच्चीस हजार वर्ष तक चक्रवर्ती पद पर रहते हुए उन्होंने शासन किया। भोगावली कर्म की समाप्ति पर उन्होंने दीक्षाव्रत अंगीकार करने की भावना अभिव्यक्त की। लोकांतिक देवों ने भगवान् से धर्म-प्रवर्तन करने की विनती की। भगवान् ने वर्षीदान देना प्रारम्भ किया।

दीक्षा एवं केवलज्ञान :

वर्षीदान समाप्त होने पर भगवान् ने षष्ठ भक्त की तपस्या से ज्येष्ठ कृष्णा चतुर्दशी के दिन भरणी नक्षत्र में एक हजार अन्य राजाओं के साथ दीक्षार्थ अभिनिष्क्रमण किया। भगवान् सहस्राम्रवन में पधारे और वहाँ सिद्ध की साक्षी से समस्त पाप-कर्मों का परित्याग कर दीक्षाव्रत अंगीकार कर लिया।

दूसरे दिन गंदिरपुर के राजा सुमित्र के यहाँ भगवान् का परमान्न से पारणा हुआ। देवताओं ने पंच दिव्य की वर्षा कर दान की महिमा बताई।

भगवान् शांतिनाथ एक वर्ष तक छद्मावस्था में विविध प्रकार की तपस्या करते हुए इधर-उधर विचरण करते रहे। एक वर्ष के उपरांत भगवान् ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए पुनः हस्तिनापुर के सहस्राम्रवन में पधारे और ध्यानस्थ हो गये। शुक्लध्यान से क्षपक श्रेणी का आरोहण कर भगवान् ने समस्त घाति-कर्मों की निर्जरा की और पौष शुक्ला नवमी को भरणी नक्षत्र के शुभ योग में केवलज्ञान और केवलदर्शन की उपलब्धि की। भगवान् सर्वज्ञ हो गए।

देवताओं द्वारा निर्मित समवरण में विराजकर भगवान् ने देव-मानवों की विशाल धर्म-सभा में अपनी प्रथम धर्म-देशना दी। अपनी देशना में भगवान् ने फरमाया कि आत्मा ही सर्वोच्च और प्रमुख है। जिस कार्य से आत्मा का उत्थान हो वही कार्य उत्तम और श्रेयस्कर है। दुर्लभ मानव जन्म पाकर भी जिसने कल्याण-साधन नहीं किया, उसका जीवन व्यर्थ और निष्फल है।

भगवान् शांतिनाथ की धर्म-देशना श्रवण कर अनेक व्यक्तियों ने दीक्षाव्रत ग्रहण कर लिया और अनेक ने श्रावक धर्म स्वीकार किया। इस प्रकार चतुर्विध संघ तीर्थ की स्थापना कर भगवान् भाव तीर्थंकर कहलाये।

परिनिर्वाण :

भगवान् शांतिनाथ की कुल आयु एक लाख वर्ष थी। अपना अंतिम समय निकट जानकर भगवान् नौ सौ साधुओं के साथ सम्मेतशिखर पर्वत पर पधारे और एक मास के अनशन से चार अघाति कर्मों की निर्जरा कर ज्येष्ठ कृष्णा त्रयोदशी को भरणी नक्षत्र में सिद्ध-बुद्ध और मुक्त हो गये। उन्होंने निर्वाण पद प्राप्त कर लिया।

धर्म-परिवार :

भगवान् शांतिनाथ के धर्म-परिवार का विवरण इस प्रकार है—

गण एवं गणधर	३६
केवली	४,३००
मनःपर्यवज्ञानी	४,०००
अवधिज्ञानी	३,०००
चौदह पूर्वधारी	८००
वैक्रियलब्धिधारी	६,०००
वादी	२,४००
साधु	६२,०००
साध्वी	६१,६००
श्रावक	२,९०,०००
श्राविका	४,१३०००

□□□

१७ भगवान् कुन्थुनाथ

छाग

भगवान् शांतिनाथ के पश्चात् सत्रहवें तीर्थंकर भगवान् कुन्थुनाथ हुए।

पूर्वभव :

पूर्व महाविदेह क्षेत्र के खड्गी राज्य के राजा सिंहावह के समय की बात है। राजा सिंहावह अत्यन्त धर्मपरायण नरेश थे। अपनी प्रजा को भी वे धर्मानुरागी बनाने का पवित्र कार्य करते रहते थे। पाप-कर्मों के विनाश के लिए वे सदैव प्रयत्नशील रहते थे। सभी प्रकार के सुख-वैभव के होते हुए भी वे कमलवत् अनासक्त भाव से उनके बीच रहते हुए अपने कर्तव्य का निष्ठापूर्वक पालन कर रहे थे। वैराग्य भाव उत्पन्न होने पर राजा सिंहावह ने अपना राज्य अपने उत्तराधिकारी को सौंपा और संवराचार्य की सेवा में पहुँच कर दीक्षाव्रत अंगीकार कर लिया। दीक्षोपरांत मुनि सिंहावह ने कठोर साधना की। अर्हत् भक्ति आदि बीस स्थानकों की आराधना कर तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन किया। अंत समय में समाधिपूर्वक देह त्याग कर सर्वार्थसिद्ध महाविमान में तैंतीस सागर की आयु वाले अहमिन्द्र देव बने।

जन्म एवं वंश :

तैंतीस सागर की आयु पूर्ण होने पर सिंहावह का जीव सर्वार्थसिद्ध महाविमान से च्युत हुआ और श्रावण कृष्णा नवमी को कृत्तिका नक्षत्र में कुरुक्षेत्र के हस्तिनापुर नामक राज्य के तेजस्वी राजा शूरसेन* की रानी श्रीदेवी की कुक्षि में उत्पन्न हुआ। उसी रात्रि में रानी श्रीदेवी ने चौदह महामंगलकारी स्वप्न देखे। उसने स्वप्नों का विवरण अपने पति राजा शूरसेन* को सुनाया। दोनों स्वप्नों के प्रभाव से अतिप्रसन्न हुए। स्वप्नशास्त्रियों से स्वप्नों का फल जानकर तो उनका हर्ष, उमंग और उल्लास असीम हो गया, उनका रोम-रोम पुलकित हो गया। राजमहल और राज्य में भी यह समाचार प्रसारित हो गया कि रानी श्रीदेवी तीर्थंकर अथवा चक्रवर्ती की माता होने का गौरव प्राप्त करने वाली हैं। इससे प्रजा में भी हर्षोल्लास छा गया।

रानी श्रीदेवी ने सावधानीपूर्वक उचित आहार-विहार से गर्भ का पालन किया। गर्भ काल पूर्ण हुआ और वैशाख कृष्णा चतुर्दशी को कृत्तिका नक्षत्र के शुभ योग में सुखपूर्वक एक तेजस्वी और अनुपम रूपवान पुत्ररत्न को जन्म दिया। राजकुमार के जन्म के समाचारों से राजमहल और सम्पूर्ण राज्य में

* जैन धर्म का मौलिक इतिहास प्रथम भाग में आपके पिता का नाम महाराज वसु दिया गया है।

प्रसन्नता की लहर व्याप्त हो गई। पहले देवताओं ने और फिर राजा तथा प्रजा ने राजकुमार का जन्मोत्सव धूमधाम से मनाया।

नामकरण :

जब राजकुमार के नामकरण का दिन आया तो राजा शूरसेन ने परिजनों तथा अन्य उपस्थित महानुभावों को बताया कि जब यह बालक अपनी माता के गर्भ मे था तब उसकी माता ने कुन्थु नामक रत्नराशि देखी थी। इसलिये राजकुमार का नाम कुन्थुकुमार रखा जाना उचित प्रतीत होता है। वहाँ उपस्थित सभी महानुभावों ने राजा के प्रस्ताव का समर्थन करते हुए यह नाम रखना स्वीकार किया।

गृहस्थ-जीवन और राज्य :

कुन्थु कुमार का शारीरिक सौन्दर्य अत्यन्त आकर्षक था। युवा होने पर उनका बल, पराक्रम, तेज, सौन्दर्य और भी निखर गया था। आपके युवा होने पर पिता राजा शूरसेन ने योग्य राजकन्याओं के साथ आपका पाणिग्रहण करवाया। आपने भोग्य-कर्म की समाप्ति के लिये इसे स्वीकार किया। कालांतर मे राजा शूरसेन राजकुमार का राज्याभिषेक कर दीक्षा ग्रहण कर ली और साधना में लीन हो गए।

राजा कुन्थु अपने राज्य का संचालन कुशलतापूर्वक कर रहे थे। राज करते हुए उन्हें तेईस हजार सात सौ पचास वर्ष हो गए कि एक दिन आयुध शाला में चक्ररत्न उत्पन्न हुआ। तब आपने छह खण्ड पृथ्वी पर विजय प्राप्त कर चक्रवर्तीपद प्राप्त किया। चक्रवर्ती बनते ही आप चौदह रत्न, नव निधान और हजारों राजाओं के स्वामी हो गए। दीर्घ काल तक आप चक्रवर्ती नरेश के रूप में अपनी प्रजा का पालन करते रहे। भोगावली कर्म समाप्त होने पर आपको दीक्षा व्रत ग्रहण करने की भावना उत्पन्न हुई। उसी समय लोकांतिक देवों ने भी आपकी सेवा में उपस्थित होकर धर्म-प्रवर्तन करने की विनती की। चक्रवर्ती कुन्थु ने अपने उत्तराधिकार का राज्याभिषेक किया और वर्षीदान देना प्रारम्भ किया।

दीक्षा एवं केवलज्ञान :

वर्षीदान समाप्त होने पर कुन्थु ने वैशाख कृष्णा पंचमी को कृत्तिका नक्षत्र में एक हजार राजाओं के साथ दीक्षार्थ अभिनिष्क्रमण किया। भगवान् सहस्राम्रवन में पधारे और समस्त पाप-कर्मों का परित्याग कर विधिपूर्वक दीक्षा ग्रहण करली। दीक्षा ग्रहण करते समय भगवान् को षष्ठ भक्त की तपस्या थी। दीक्षा ग्रहण करते ही भगवान् के मनःपर्यवज्ञान उत्पन्न हुआ।

दूसरे दिन यहाँ से विहार कर भगवान् चक्रपुर नगर पधारे। वहाँ के राजा व्याघ्रसिंह के यहाँ प्रासुक आहार से भगवान् का प्रथम पारणा हुआ। इस अवसर पर देवों ने पंच दिव्य प्रकट कर दान की महिमा बताई।

भगवान् कुन्थुनाथ सोलह वर्ष तक विविध प्रकार की तपस्या करते हुए छद्मस्थावस्था में ग्रामानुग्राम विचरण करते रहे। फिर भगवान् सहस्राम्रवन में पधारे और वहाँ ध्यानस्थ हो गए। शुक्लध्यान के दूसरे चरण में तिलक वृक्ष के नीचे घातिक कर्मों का क्षय कर सर्वज्ञ हो गए। उन्होंने केवलज्ञान-केवलदर्शन का उपार्जन कर लिया।

देवताओं द्वारा निर्मित समवसरण में विराजकर भगवान् ने देव-दानवों-मानवों की सभा में अपनी प्रथम धर्म देशना दी। भगवान् की धर्म-देशना से प्रभावित होकर अनेक लोगों ने दीक्षाव्रत अंगीकार किया और अनेक ने श्रावक धर्म स्वीकार किया। इस प्रकार चतुर्विध धर्म-तीर्थ की स्थापना कर भगवान् भाव तीर्थंकर कहलाये।

परिनिर्वाण :

केवली काल में भगवान् ने विभिन्न क्षेत्रों में विचरण करते हुए ज्ञान का प्रकाश फैलाया। फिर अपना अंत समय जानकर भगवान् एक हजार मुनियों के साथ सम्मेतशिखर पर पधारे। एक मास के अनशन के साथ वैशाख कृष्णा प्रतिपदा को कृत्तिका नक्षत्र में भगवान् कुन्थुनाथ सम्पूर्ण कर्मों की निर्जरा कर सिद्ध-बुद्ध और मुक्त हो गए। उन्होंने निर्वाण पद प्राप्त कर लिया। भगवान् कुन्थुनाथ का कुल आयुष्य पंचाणवें हजार वर्ष का था।

धर्म-परिवार :

भगवान् कुन्थुनाथ के धर्म-परिवार का विवरण इस प्रकार है—

गणधर	३५
केवली	३,२००
मनःपर्यवज्ञानी	२,५००
अवधिज्ञानी	३,३४०
चौदह पूर्वधारी	६७०
वैक्रियलब्धिधारी	५,१००
वादी	२,०००
साधु	६०,०००
साध्वी	६०,६००
श्रावक	१,७९,०००
श्राविका	३,८१,०००

□□□

१८ भगवान् अरनाथ

नन्दावर्त

अठारहवें तीर्थंकर हुए भगवान् अरनाथ।

पूर्वभव :

जम्बूद्वीप के पूर्वमहाविदेह क्षेत्र में सुसीमा नगरी थी। इस नगरी पर राजा धनपति का राज था। राजसी सुख-वैभव के बीच रहते हुए भी राजा धनपति ने धर्म की विशेष आराधना की थी और सुख वैभव से अनासक्त बने रहे थे। उन्होंने अपने राज में प्रजा को भी नीतिवान बना दिया था। परिणामस्वरूप उनके राज्य में अपराधियों का नामोनिशान ही नहीं था।

राज्य की बागडोर अपने उत्तराधिकारी को सौंप कर राजा धनपति ने संवरमुनि के पास दीक्षाव्रत ग्रहण कर लिया। मुनि धनपति धर्माराधना करते हुए, विशेष कर अभिग्रह, ध्यान और स्वाध्याय की विशेष साधना करते हुए ग्रामानुग्राम विचरण करते रहे। विचरण काल में वे पूर्ण रूप से निरपेक्ष भाव से ही रहते। वे चातुर्मासी तप की आराधना कर रहे थे। उनका पारणा जिनदास के यहाँ हुआ। इस अवसर पर देवताओं ने अहोदान की ध्वनि करके दानदाता और मुनि की महिमा का प्रचार-प्रसार किया। इस पर भी मुनि धनपति निरपेक्ष ही बने रहे। अहंभाव उन्हें छू भी नहीं पाया। वे निरन्तर अपनी साधना करते रहे और कर्म निर्जरा कर तीर्थंकर गोत्र का उपार्जन किया। अंत में अपनी देह का त्याग कर ग्रैवेयक में महर्द्धिक देव रूप में उत्पन्न हुए।

जन्म एवं वंश :

देवभव की आयु समाप्त होने पर धनपति का जीव ग्रैवेयक से च्युत हुआ और हस्तिनापुर के कुरु वंशीय राजा सुदर्शन की रानी महादेवी की कुक्षि में फाल्गुन शुक्ला द्वितीया को गर्भ रूप में उत्पन्न हुआ। उसी रात्रि में रानी ने चौदह महाशुभ स्वप्नों को देखा। इससे सम्पूर्ण राजमहल ने परम आनन्द का अनुभव किया। उचित आहार-विहार से रानी ने गर्भ का पालन किया। गर्भ काल में रानी प्रसन्नचित्त रह कर सावधान भी बनी रही।

गर्भकाल पूर्ण होने पर मिगसिर शुक्ला दशमी को रेवती नक्षत्र में रानी महादेवी ने सुखपूर्वक/पीड़ारहित पुत्र रत्न को जन्म दिया। पुत्र अनुपम सौन्दर्य का धनी और तेजस्वी था। पुत्ररत्न का क्या, यह तो तीर्थंकर का जन्म था।

इस कारण उनके जन्म का समाचार तीनों लोकों में उसी समय प्रसारित हो गया। चारों ओर हर्ष व्याप्त हो गया। भगवान् के जन्म के प्रभाव से घोर यातना भोग रहे नारकी जीव भी अपनी पीड़ा क्षण भर भूल गए। देवों और देवेन्द्रों ने भगवान् का जन्मोत्सव मनाया। राजा सुदर्शन ने भी पुत्र का जन्मोत्सव पूर्ण हर्ष, उमंग और उल्लास के साथ मनाया। पूरे राज्य में जन्मोत्सव मनता रहा।

नामकरण :

नामकरण वाले दिन राजा सुदर्शन ने बताया कि जब बालक गर्भ में था तब रानी ने बहुमूल्य रत्नमय चक्र के अर को देखा था। इस कारण बालक का नाम अर रखा जाना उचित होगा। इस अवसर पर उपस्थित सभी परिजनों और मित्रों ने राजा के प्रस्ताव पर अपनी सहमति व्यक्त की। इस प्रकार भगवान् का नाम अर रखा गया।

गृहस्थ-जीवन और राज्य :

अपनी बाल क्रीड़ाओं से सबके मन को प्रसन्न करते हुए कुमार अर ने चन्द्रमा की कला की भांति बढ़ते हुए यौवनावस्था में प्रवेश किया। अपने पुत्र को युवा जानकर राजा सुदर्शन ने आग्रह पूर्वक अनेक रूपवती, युवा राजकन्याओं के साथ उनका विवाह करवाया। तीन ज्ञान के धारक थे। वे जानते थे कि अभी उनके भोग कर्म समाप्त नहीं हुए हैं। इसलिये वे विवाह बंधन में बंधने के लिए सहमत हो गए थे।

कालांतर में राजा सुदर्शन ने अपने राज्य का भार युवराज अर को सौंपकर स्थविर मुनि की सेवा में जाकर दीक्षा व्रत अंगीकार कर लिया। कुछ समय तक अर ने माडलिक राजा के रूप में राज किया और फिर उनकी आयुध शाला में चक्ररत्न के उत्पन्न होने पर षट् खण्ड पृथ्वी को जीत कर चक्रवर्ती सम्राट बने। बत्तीस हजार राजा चक्रवर्ती अर की सेवा में रहते थे। अर दीर्घ काल तक चक्रवर्ती पद का उपभोग करते रहे। भोग-कर्म की समाप्ति पर चक्रवर्ती अर संयम व्रत के लिए तत्पर हुए। तभी लोकांतिक देवों ने भगवान् से धर्म-प्रवर्तन करने के लिए विनती की। उन्होंने अपने उत्तराधिकारी को राज्य सौंपा और वर्षीदान देना शुरु कर दिया। यह जानकर कि चक्रवर्ती सम्राट अर संयम ग्रहण करने वाले हैं, अनेक लोगों को आश्चर्य हुआ और वे भी विरक्त हो गए।

दीक्षा एवं केवलज्ञान :

मार्गशीर्ष शुक्ला एकादशी को रेवती नक्षत्र में चक्रवर्ती सहस्राम्रवन में पधारे और षष्ठ भक्त तपस्या से सम्पूर्ण पापों का परित्याग कर एक हजार

राजाओं के साथ विधिवत् दीक्षाव्रत अंगीकार कर लिया। दीक्षाग्रहण करते ही भगवान् को मनःपर्यवज्ञान की उपलब्धि हुई।

दूसरे दिन राजपुर नगर के राजा अपराजित के यहाँ भगवान् का परमान्न से पारणा हुआ। भगवान् अरनाथ के छद्मस्थ काल के विषय में मतैक्य नहीं है। कहीं छद्मस्थ काल तीन वर्ष माना जाता है तो कहीं तीन अहोरात्र। छद्मस्थ काल में भगवान् ग्रामानुग्राम विचरण करते रहे और साधना करते रहे। फिर विचरण करते हुए भगवान् सहस्राम्रवन में पधारे और आम्र वृक्ष के नीचे ध्यानावस्थित हो गए। कार्तिक शुक्ला द्वादशी रेवती नक्षत्र में शुक्लध्यान की क्षपक श्रेणी का आरोहण करते हुए क्रमशः बारहवें गुणस्थान को प्राप्त किया और घाति-कर्मों की सर्वथा निर्जरा कर भगवान् ने केवलज्ञान-केवलदर्शन का उपार्जन किया। भगवान् सर्वज्ञ बन गए।

केवली के रूप में भगवान् ने समवसरण में विराजकर अपनी प्रथम धर्म देशना दी। उनकी धर्म-देशना से प्रेरणा पाकर अनेक व्यक्तियों ने दीक्षाव्रत अंगीकार किया तो अनेक ने श्रावक धर्म स्वीकार किया। इस प्रकार भगवान् ने चतुर्विध संघ की स्थापना की और वे भाव-तीर्थंकर एवं भाव अरिहंत कहलाये।

भाव-अरिहंत को अठारह दोषों से रहित बताया गया है। ये अठारह दोष इस प्रकार हैं—

(१) ज्ञानावरण कर्मजन्य निद्रा-दोष,
(२) दर्शनावरण कर्मजन्य निद्रा-दोष,
(३) मोह कर्मजन्य मिथ्यात्व दोष,
(४) अविरति दोष,
(५) राग,
(६) द्वेष,
(७) हास्य,
(८) रति,
(९) अरति-खेद,
(१०) भय,
(११) शोक-चिन्ता,
(१२) दुगन्छा,
(१३) काम,
(१४-१८) अन्तरायजन्य दानान्तराय आदि पांच अन्तराय दोषों को मिलाकर अठारह दोष।

कतिपय लोग आहार दोष को भी अठारह दोषों में गिनते हैं किन्तु यह शरीर का दोष है। आत्मिक गुणों में इसकी गणना करना उचित नहीं लगता। केवलज्ञान की प्राप्ति में यह बाधक नहीं है। अरिहन्त बन जाने पर तीर्थंकर भगवान् ज्ञानादि अनन्त चतुष्टय और अष्ट महाप्रतिहार्य के धारक होते हैं।

परिनिर्वाण :

भगवान् अरनाथ का सम्पूर्ण आयुष्य चौरासी हजार वर्ष का था। यह जानकर कि मोक्षकाल निकट आ गया है, भगवान् अरनाथ एक हजार मुनियों के साथ सम्मेतशिखर पर पधारे और एक मास का अनशन ग्रहण किया। अंतिम समय में शैलेशी दशा को प्राप्त कर चार अघाति कर्मों का क्षय कर मार्गशीर्ष शुक्ला दशमी को रेवती नक्षत्र में भगवान् अरनाथ सिद्ध-बुद्ध और मुक्त हो गये। उन्होंने निर्वाण पद प्राप्त कर लिया। वे निरंजन निराकार सिद्ध बन गए।

धर्म-परिवार :

भगवान् अरनाथ के धर्म-परिवार का विवरण इस प्रकार है—

गणधर	३३
केवली	२,८००
मनःपर्यवज्ञानी	२,५५१
अवधिज्ञानी	२,६००
चौदह पूर्वधारी	६१०
वैक्रियलब्धिधारी	७,३००
वादी	१,६००
साधु	५०,०००
साध्वी	६०,०००
श्रावक	१,७४,०००
श्राविका	३,७२,०००

□□□

कलश

१९ भगवान् मल्लिनाथ

उन्नीसवें तीर्थंकर भगवान् मल्लिनाथ हुए। प्रायः पुरुष ही तीर्थंकर होते हैं किन्तु अपवाद स्वरूप स्त्री रूप में ही उनका जन्म होना माना गया है ,जो एक आश्चर्य है। जैनधर्म में दस आश्चर्य माने गए हैं, उनमें से उन्नीसवें तीर्थंकर का स्त्रीरूप में जन्म लेना भी एक आश्चर्य है। दिगम्बर परम्परा इन्हें स्त्री रूप में स्वीकार नहीं करती है। चिह्न :

पूर्वभव :

जम्बूद्वीप के पश्चिम महाविदेह के सलिलावती विजय में वीतशोक नामक एक नगरी थी। यह नगरी सभी प्रकार से समृद्ध थी। इस नगरी पर राजा महाबल का राज था। राजा महाबल जहाँ राजकाज में प्रवीण थे, वहीं धर्माराधना में भी सदैव तत्पर रहते थे। राजा महाबल की रानी का नाम कमलश्री था। बलभद्र नामक इनके एक पुत्र भी था। राजा महाबल के पांच सौ रानियाँ थीं किंतु फिर भी वे मानसिक रूप से अनासक्त ही रहते थे। जब बलभद्र युवा हो गया तो राजा महाबल ने उसका राज्याभिषेक कर राज्य उसे सौंप दिया और स्वयं दीक्षित हो गये। महाबल के साथ इसकी बाल्यावस्था के छः मित्रों ने भी उसका अनुसरण करते हुए दीक्षाव्रत अंगीकार कर लिया। महाबल के छः मित्रों के नाम इस प्रकार हैं—१. धरण, २. पूरण, ३. वसु, ४. अचल, ५. वैश्रवण और ६. अभिचन्द्र। इन सातों मित्रों ने मुनिवर धर्म के पास संयम व्रत अंगीकार किया था। दीक्षोपरांत सातों मुनियों ने परस्पर निश्चित किया था कि वे सब एक ही प्रकार की एक समान तपस्या करेंगे। कुछ समय तक तो उनका यह निश्चय समान रूप से चलता रहा किन्तु कालांतर में मुनि महाबल के मानस पटल पर विचार उत्पन्न हुए कि एक ही प्रकार की तपस्या से तो सभी को समान ही फल की उपलब्धि होगी और ऐसा होने से वह भी उनके समान ही रहेगा। वह अपना अलग और विशिष्ट स्थान बनाना चाहता था। इसलिये मुनि महाबल गुप्त रीत्यनुसार अतिरिक्त तप एवं साधना भी करने लगे। इसकी जानकारी उनके छः मित्र मुनियों को नहीं हो पाई। जब भी पारणे का समय होता छः मुनि पारणा करने लगते और मुनि महाबल पुनः तप साधना

में लीन हो जाते। मुनि महाबल छद्म रूप से तपाराधना कर रहे थे, इस कारण उन्होंने स्त्री वेद का बंध कर लिया और चूंकि बीस स्थानकों की भी विशिष्ट साधना की थी इस कारण तीर्थंकर गोत्र कर्म का भी उपार्जन किया। इन सातों मुनियों ने दीर्घकाल तक संयम व्रत का पालन करते हुए धर्माराधना की और अंत में देह त्याग कर सातों अनुत्तर विमान में बत्तीस सागर आयु वाले अहमिन्द्र देव बने।

कपट को धर्म कार्य में अनुचित तत्व माना गया है। मुनि महाबल ने कपट या माया का आश्रय लिया। उन्होंने उसका प्रायश्चित्त भी नहीं किया। मायापूर्ण ढंग से किया गया धर्म कार्य मिथ्या हो जाता है। वह शून्य परिणामी होता है। यही कारण रहा कि उनका स्त्री वेद कर्म स्थगित नहीं हुआ।

जन्म एवं वंश :

शीतल, सुगन्धित पवन मन्द गति से प्रवाहित हो रहा था। चारों दिशाओं में शांति छायी हुई थी। प्रजा प्रफुल्लित एवं निश्चिंत थी। आमोद-प्रमोद में अपना समय व्यतीत कर रही थी। सम्मोहक एवं शांत रात्रि का समय था। अश्विनी नक्षत्र का चन्द्र के साथ सुयोग होने पर फाल्गुन कृष्णा चतुर्थी की अर्द्धरात्रि के समय जब देव भव की बत्तीस सागर की आयु पूर्ण हुई तो महाबल का जीव अनुत्तर विमान से च्युत होकर तीन ज्ञान—मति, श्रुति और अवधि के साथ जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र की मिथिला नगरी के राजा कुम्भ की महारानी प्रभावती देवी की कुक्षि में गर्भ रूप से उत्पन्न हुआ। उसी रात्रि में महारानी प्रभावती देवी ने अर्द्ध जाग्रतावस्था में महामंगलकारी चौदह महास्वप्न देखे और उसका रोम-रोम पुलकित हो गया, उसकी प्रसन्नता असीम हो गई। महारानी प्रभावती देवी ने स्वप्नों का विवरण अपने पति राजा कुम्भ को सुनाया तो वे भी अपार हर्ष का अनुभव करने लगे। जिन स्वप्नों के देखने से इतनी प्रसन्नता का अनुभव हो, इतना आनन्द मिले, उनका फल जानने की इच्छा होना स्वाभाविक ही है।

प्रातःकाल स्वप्नशास्त्रियों को आमंत्रित कर उन्होंने रानी प्रभावती देवी द्वारा देखे गए स्वप्नों का विवरण बताकर उनके फल जानने की जिज्ञासा प्रकट की। स्वप्नशास्त्रियों ने अपने अनुभव एवं शास्त्रों के आधार पर बताया कि जो स्वप्न देखे गए हैं वे सर्वश्रेष्ठ स्वप्न हैं। इन स्वप्नों को महास्वप्नों की संज्ञा दी गई है। ऐसे महास्वप्न केवल तीर्थंकरों और चक्रवर्तियों की माताएं ही गर्भधारण की रात्रि में देखती हैं। महारानी द्वारा देखे गए स्वप्न इस बात का संकेत दे रहे हैं कि इनकी रत्नकुक्षि में कोई पुण्यशाली जीव आया है, जो

भविष्य में तीर्थंकर अथवा चक्रवर्ती सम्राट होगा। स्वप्नशास्त्रियों से स्वप्नों का फल सुनकर राजा कुम्भ एवं रानी प्रभावती देवी दोनों की प्रसन्नता की सीमा नहीं रही। वे असीम आनन्द के सागर में गोते लगाने लगे। स्वप्नशास्त्रियों को यथोचित पुरस्कार देकर ससम्मान विदा किया।

रानी प्रभावती देवी अब संयमित एवं समुचित आहार-विहार का पूरा ध्यान रखते हुए सावधानीपूर्वक गर्भ का पालन करने लगी। उसने शांत एवं प्रसन्नचित्त रहते हुए गर्भकाल पूर्ण होने पर मार्गशीर्ष शुक्ला एकादशी की मध्यरात्रि के समय चन्द्रमा का अश्विनी नक्षत्र के साथ योग होने पर बिना किसी पीड़ा के सुखपूर्वक सर्वांगसुन्दर कन्या को जन्म दिया।

इन्द्र-इन्द्राणियों, देवों एवं देवियों ने हर्षोल्लास के साथ उन्नीसवें तीर्थंकर का जन्मोत्सव मनाया। राजा कुम्भ ने भी अपने राज्य में पुत्री का जन्मोत्सव धूमधाम से मनाया।

नामकरण :

जन्मोत्सव हर्षोल्लासमय वातावरण में सम्पन्न हुआ और नामकरण वाले दिन राजा कुम्भ ने अपने परिजनों, मित्रों एवं नगर के लब्धप्रतिष्ठित महानुभावों को आमंत्रित कर बताया कि जब बालिका माता के गर्भ में थी तब उसकी माता को पांच वर्णों के पुष्पों की शय्या पर सोने तथा दामगण्ड का दोहद उत्पन्न हुआ था। रानी के दोहद की पूर्ति देवों द्वारा की गई थी। पुष्पों में मालती पुष्पों का आधिक्य था। इस कारण बालिका का नाम मल्ली रखा जाना उचित लगता है। सबने राजा के प्रस्ताव का समर्थन किया। इस प्रकार बालिका का नाम मल्ली रखा गया, जो कालांतर में मल्लिनाथ के रूप में विख्यात हुई।

अलौकिक सौन्दर्य :

मल्ली जन्म से ही अनुपम रूप-लावण्य की स्वामिनी थी। जैसे-जैसे उसकी आयु बढ़ती जा रही थी, वैसे-वैसे उसका सौन्दर्य निखर रहा था। जिस प्रकार किसी पुष्प की सौरभ को दबाकर नहीं रखा जा सकता, वह अपनी सुगन्ध से समूचे वातावरण को सुरभित कर देता है और पथिकों को भी अपनी सौरभ से अपनी ओर आकर्षित कर लेता है, ठीक उसी प्रकार मल्ली के असीम सौन्दर्य निधि की ख्याति दिग्-दिगन्त में प्रसरित होने लगी। अभी मल्ली ने यौवन की देहलीज पर अपना कदम रखा ही था कि उसकी अद्भुत सौन्दर्य से प्रभावित/आसक्त होकर अनेक राजाओं की ओर से उसके साथ विवाह के प्रस्ताव आने लगे। राजा कुम्भ आगत प्रस्तावों को अस्वीकृत कर देते। यद्यपि

जिन राजाओं की ओर से भी विवाह के प्रस्ताव आ रहे थे, वे राजा सर्वथा योग्य, मनोज्ञ, पराक्रमी थे किंतु राजा कुम्भ प्रस्तावक राजा के संदेशवाहक को न केवल अपनी ओर से अस्वीकृति प्रदान करते वरन् उसका तिरस्कार करने में भी नहीं चूकते थे। धीरे-धीरे ऐसे संदेशवाहकों का अपमान करना उनके स्वभाव में आ गया। यहाँ तक कि उन्होंने जब साकेतपुर के राजा प्रतिबुद्धि के संदेशवाहक ने राजा कुम्भ की राजसभा में उपस्थित होकर अपने राजा की बुद्धि, वैभव और पराक्रम की प्रशंसा करते हुए मल्लीकुमारी के साथ विवाह करने का प्रस्ताव रखा तो राजा कुम्भ ने उसका अपमान करते हुए उसे वापस कर दिया और कहा कि तुम्हारे राजा मेरे समक्ष हैं ही क्या? उनसे कह देना कि वे स्वप्न में भी मेरी पुत्री के साथ विवाह करने का विचार न करें। मेरी पुत्री अलौकिक रूप-लावण्य की स्वामिनी है, उस जैसे साधारण राजा के साथ उसका विवाह कभी भी नहीं हो सकता।

इसी प्रकार कुछ अन्य राजाओं ने भी मल्ली कुमारी के साथ अपने विवाह के प्रस्ताव भेजे। राजा कुम्भ ने सभी प्रस्तावों को अस्वीकृत कर दिया। उसने यह भी कहा कि मेरी पुत्री के वर होने की योग्यता किसी में भी नहीं है। उसने प्रस्तावक राजाओं की कड़ी भर्त्सना की। साकेतपुर के राजा प्रतिबुद्धि चम्पा के राजा चन्द्रछाग, कुणाला के राजा रुक्मी, वाराणसी के राजा शंख, हस्तिनापुर के राजा अदीनशत्रु और कांपिलपुर के राजा जितशत्रु का घोर अपमान राजा कुम्भ कर चुका था। परिणाम यह हुआ कि इनके मन में जो प्रीतिभाव था वह शत्रु भाव में परिवर्तित हो गया और ये सब अपनी-अपनी सेनायें लेकर मिथिला पर आक्रमण करने के लिए चल पड़े। जब राजा कुम्भ को यह सूचना मिली कि छः राजाओं द्वारा मिथिला पर आक्रमण होने वाला है तो वह चिन्तित हो गया। कारण कि वह इतना सक्षम एवं सशक्त नहीं था कि इस आक्रमण को वह विफल कर दे। वह दुःखी भी हो रहा था। विपत्ति की इस घड़ी में क्या किया जाये? उसकी कुछ भी समझ में नहीं आ रहा था। उसकी घबराहट निरन्तर बढ़ती ही जा रही थी। जब उसकी पुत्री राजकुमारी मल्ली को छः राजाओं द्वारा मिथिला पर आक्रमण करने की जानकारी मिली तो उसने अवधिज्ञान से जान लिया कि ये छः राजा और कोई नहीं, उसके पूर्व जन्म के छः मित्र हैं। उसने उन्हें प्रतिबोध देने का निश्चय किया।

मित्रों को प्रतिबोध :

मल्लीकुमारी इस संकट से पूर्व परिचित थी। इस समस्या के समाधान के लिए उसने पहले से ही एक मोहनगृह का निर्माण करवा रखा था। इस

मोहनगृह का निर्माण कुछ इस प्रकार करवाया गया था कि एक कक्षवाला व्यक्ति दूसरे कक्ष में रहने वाले व्यक्ति की उपस्थिति नहीं जान पाये। इस मोहनगृह में इस प्रकार के कुल छः कक्ष बनवाये गए थे। इन छहों कक्षों के सामने एक स्वर्ण प्रतिमा बनवाकर स्थापित कर दी गई थी। यह स्वर्ण प्रतिमा मल्ली की छाया कृति थी। कुछ ही दूरी से देखने पर भी वह साक्षात् मल्ली ही लगती थी और देखने वाला यह समझता कि वह अभी उससे बात करेगी। इसकी एक विशेषता यह भी थी कि प्रतिमा के मस्तक पर कमलाकृति का किरीट था। प्रतिमा के कपाल में एक छिद्र था जो उदर तक खुला हुआ था। इस प्रकार की प्रतिमा का निर्माण करवाने के पीछे विशेष उद्देश्य था। मल्लीकुमारी इस प्रतिमा के माध्यम से अपने पूर्वभव के मित्रों को प्रतिबोध देना चाहती थी। वह प्रतिदिन एक-एक ग्रास किरीट हटाकर प्रतिमा के उदर में डाल दिया करती थी। जब उसके पूर्वभव के मित्रों ने उसे प्राप्त करने के लिए मिथिला पर आक्रमण कर दिया और उसने देखा कि उसके पिताश्री राजा कुम्भ इस संकट की घड़ी में अत्यन्त चिंतित और दुःखी हैं तो उसने अवसर जानकर अपने पिताश्री से निवेदन किया कि वे प्रत्येक राजा को अलग-अलग यह संदेश भेज दें कि राजकुमारी मल्ली उनके साथ विवाह करने के लिए तैयार है। साथ ही उन्हें अलग-अलग समय आमंत्रित भी किया जाये। मल्ली ने इन राजाओं को ठहराने की व्यवस्था अपने मोहनगृह में की। राजा कुम्भ इसे छल मान रहा था और वह अपनी पुत्री की योजना से सहमत नहीं था। जब मल्ली ने बताया कि छल नहीं है उन राजाओं को प्रतिबोध देने के लिए यह सब किया जा रहा है तब राजा कुम्भ सहमत हुआ और मल्ली की योजना के अनुसार उसने छहों राजाओं को संदेश भेज दिया। संदेश पाकर प्रत्येक राजा प्रसन्न हुआ। युद्ध के बादल छंट गये। एक-एक कर छः ही राजा मोहनगृह में आकर अलग-अलग कक्षों में पहुँच गए। एक-दूसरे की उपस्थिति के सम्बन्ध में किसी को भी जानकारी नहीं थी। प्रत्येक मल्लीकुमारी जैसी रूपवती-लावण्यवती पत्नी के मिलने के स्वप्नों में खोया हुआ था। अपने-अपने कक्ष के द्वार से वे मल्ली की स्वर्ण प्रतिमा को देख-देख कर मुग्ध हो रहे थे। सभी उसे वास्तविक मल्ली ही समझ रहे थे। जिस समय ये छहों राजा मल्ली के स्वप्नों में खोये अपने-अपने भाग्य की सराहना कर रहे थे उसी समय गुप्त मार्ग से मल्ली स्वर्ण प्रतिमा की पीठिका के समीप प्रकट हुई। राजागण एक साथ दो-दो मल्ली को देखकर विस्मित रह गये। वे यह समझ नहीं पा रहे थे कि मामला क्या है? एक मल्ली के स्थान पर दो कैसे हो गई? अभी वे इसी ऊहापोह में

खोये हुए थे कि मल्ली कुमारी ने प्रतिमा का किरीट हटा दिया। किरीट के हटते ही मोहनगृह का सुरभित वातावरण दुर्गन्ध से भर गया। किरीट के हटते ही कपाल के छिद्र से उदरस्थ अन्न की सडांध वहाँ व्याप्त हो गई। क्षण भर पहले जहाँ सभी राजा प्रसन्नचित्त थे, वहीं अब दुर्गन्ध के कारण उनका बुरा हाल था। वे आकुल-व्याकुल हो गये। दुर्गन्ध के कारण उन्हें घबराहट भी होने लगी। उन्होंने विपरीत दिशा में मुँह मोड़ लिये।

इसी समय मल्लीकुमारी ने उन्हें सम्बोधित करते हुए कहा—"अरे-अरे! यह क्या? आप लोग तो मेरे सौन्दर्य के प्रति आसक्त थे। मुझे प्राप्त करने के लिए युद्धोन्मत्त हो गए थे। अब फिर ऐसा क्या हो गया जो आपने मुझसे मुंह मोड़ लिया।"

"राजकुमारी! तुम्हारा दर्शन मनमोहक है, मुग्धकारी है किंतु इस समय नासिका का अनुभव प्राणलेवा है। हम यहाँ से निकल कर इस संकट से छुटकारा पाना चाहते हैं किंतु कोई मार्ग दिखाई नहीं दे रहा है।" राजाओं ने एक स्वर से कहा।

"यह एक स्वर्णप्रतिमा है। मेरी ही अनुकृति है इसमें प्रतिदिन एक ग्रास अन्न डाला जाता रहा है। उदरस्थ होने पर वह अन्न सड़ गया है और छिद्र के अनावृत होते ही उसकी दुर्गन्ध यहाँ फैल गई है। इसी दुर्गन्ध से आपके मन में ग्लानि उत्पन्न हो रही है। मेरा यह शरीर, मेरा ही क्या आपका भी, सभी का शरीर मांस-मज्जा से बना है। कुछ विशेषताएँ वास्तविक नहीं हैं। भीतर से तो मलिन एवं अशुचि रूप ही है। अन्न पवित्र है किन्तु शरीर के सम्पर्क में आकर वह विकारयुक्त और घृणोत्पादक हो जाता है, मल में परिवर्तित हो जाता है। ऐसे घृणित शरीर के प्रति आसक्ति रखना, उसके प्रति मोह रखना सर्वथा मिथ्या है। आप अपने पूर्व-भव का स्मरण करें और उसके स्मरण से आत्म-कल्याण की ओर प्रवृत्त होने का प्रयास करें।" मल्लीकुमारी ने कहा।

मल्लीकुमारी के कथन से राजाओं की आँखें खुल गईं। अपने कृत्य पर उन्हें पश्चात्ताप होने लगा। सभी कक्षों के द्वार खोल दिये गए। सभी राजागण बाहर निकल आए। मल्ली कुमारी ने उन्हें पूर्वजन्म का विवरण भी सुनाया, जिसे सुनकर पुनर्मिलन से सभी हर्षित भी हुए। उन्होंने मल्लीकुमारी का उपकार माना और उचित मार्गदर्शन चाहा। मल्लीकुमारी ने अपने प्रतिबोधन से उनके उद्विग्न चित्तों को शांत करते हुए कहा कि वह आत्म-कल्याण के लिये संयमव्रत अंगीकार करने जा रही है। यदि वे चाहें तो विरक्त होकर दीक्षाव्रत अंगीकार कर अपना कल्याण कर सकते हैं, इस मानव भव को सार्थक

कर सकते हैं। सभी राजाओं ने भगवती मल्ली का उपदेश स्वीकार कर चारित्र धर्म स्वीकार करने के लिए अपनी स्वीकृति प्रदान कर दी।

दीक्षा एवं केवलज्ञान :

मल्लिकुमारी से प्रतिबोध पाकर उनकी आज्ञा लेकर छहों ही राजा अपने-अपने राज्य में जाकर चारित्र ग्रहण की तैयारी में संलग्न हो गए। इधर लोकांतिक देवों ने मल्लिनाथ से धर्म-प्रवर्तन करने की विनती की। उन्होंने ने वर्षीदान दिया और फिर दीक्षार्थ अभिनिष्क्रमण कर सहस्राम्रवन में पधारे और तीन सौ स्त्रियों और तीन सौ पुरुषों के साथ मार्गशीर्ष शुक्ला एकादशी को समस्त पाप-कर्मों का परित्याग कर *दीक्षाव्रत अंगीकार कर लिया। दीक्षोपरांत तत्काल उन्हें मनःपर्यव ज्ञान की उपलब्धि हुई।

भगवान् मल्लिनाथ ने जिस दिन दीक्षाव्रत अंगीकार किया उसी दिन वे अशोक वृक्ष के नीचे शिलापट्ट पर सुखासन से ध्यानमग्न हो गये। उसी दिन के तीसरे प्रहर में क्षपक श्रेणी चढकर केवलज्ञान का उपार्जन किया। भगवान् मल्लिनाथ सर्वज्ञ हो गए। यहाँ यह उल्लेख करना प्रासंगिक ही होगा कि वर्तमान अवसर्पिणी में सबसे कम छद्मस्थ अवस्था में चारित्र पर्याय का पालन करने वाली वे ही थीं। दीक्षा के ही दिन केवलज्ञान की उपलब्धि केवल आपको ही हुई।

भगवान् का केवलज्ञान उत्सव मनाया गया और फिर देवताओं ने भव्य समवसरण की रचना की। उस समवसरण में विराजित होकर भगवान् ने प्रथम धर्म-देशना दी। अपनी प्रथम देशना में भगवान् मल्लिनाथ ने घोर दुःखानुबन्धी दुःखों की असीमित अनादि-अनन्त परम्परा वाले दुःखों से ओत-प्रोत चतुर्विध गतिक संसार के उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मक स्वभाव पर अज्ञान घनान्धकार विनाशक प्रकाश डालते हुए संसार के भव्य प्राणियों का कल्याण करने के लिए संसार के सब प्रकार के दुःखों का अंत करने वाले धर्म का सच्चा स्वरूप स्पष्ट किया।

भगवान् की देशना से प्रेरणा पाकर अनेक भव्य प्राणियों ने संयमव्रत अंगीकार किया और अनेक ने श्रावक धर्म स्वीकार किया। भगवान् के पूर्वभव के छहों मित्रों ने भी भगवान् की सेवा में दीक्षाव्रत ग्रहण किया। भगवान् के पिता राजा कुम्भ और माता रानी प्रभावती देवी ने श्रावक धर्म स्वीकार किया। इस प्रकार भगवान् चतुर्विध संघ की स्थापना कर भाव तीर्थंकर कहलाये।

* दीक्षा तिथि पौष शुक्ला एकादशी भी मिलती है। उसी प्रकार साथ में दीक्षा लेने वाले पुरुषों की संख्या कहीं-कहीं एक हजार बताई गई है।

परिनिर्वाण :

भगवान् मल्लिनाथ का कुल आयुष्य ५४,९०० वर्ष था। अपना अंतिम समय निकट जानकर भगवान् पांच सौ आर्यिकाओं और पांच सौ मुनियों के साथ सम्मेतशिखर पर पधारे और वहाँ एक मास के अनशन से अवशिष्ट कर्मों की निर्जरा कर चैत्र शुक्ला चतुर्थी की अर्द्धरात्रि में भरणी नक्षत्र के योग में अपनी देह का त्याग कर निर्वाण पद प्राप्त किया। भगवान् सिद्ध-बुद्ध और मुक्त हो गए।

दिगम्बर परम्परा भगवान् मल्लिनाथ को स्त्री न मानकर पुरुष ही मानती है, क्योंकि उनकी मान्यतानुसार स्त्री को मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती।

धर्म-परिवार :

भगवान् मल्लिनाथ के प्रथम शिष्य एवं प्रमुख गणधर का नाम भिषक् था और साध्वी संघ की प्रवर्तिनी प्रथम शिष्या का नाम बन्धुमती था। अन्य तीर्थंकरों की एक ही प्रकार की परिषद् थी, किन्तु भगवान् मल्लिनाथ के साध्वियों की आभ्यन्तर परिषद् और साधुओं की बाह्य परिषद्—यों दो परिषदें थीं। धर्म-परिवार का शेष विवरण इस प्रकार है—

गणधर	२८
केवली	२,२००
मनःपर्यवज्ञानी	१,७५०
अवधिज्ञानी	२,२००
चौदह पूर्वधारी	६६८
वैक्रियलब्धिधारी	२,९००
वादी	१,४००
अनुत्तरोपपातिक मुनि	२,०००
साधु	४०,०००
साध्वी	५५,०००
श्रावक	१,८३,०००
श्राविका	३,७०,०००

□□□

२० भगवान् मुनिसुव्रत

कुर्म-कछुआ

भगवान् मल्लिनाथ के पश्चात् बीसवें तीर्थंकर भगवान् मुनिसुव्रत हुए।

पूर्वभव :

प्राचीन काल में अपर विदेह में चम्पानगरी नामक राज्य था। चम्पानगरी पर राजा सुरश्रेष्ठ का शासन था। राजा सुरश्रेष्ठ अपनी दानशीलता, धार्मिकवृत्ति तथा बल-पराक्रम के लिए विख्यात था। उनके प्रभाव को देखकर अनेक अन्य राजाओं ने उनकी अधीनता स्वीकार कर ली थी। वे एक विशाल राज्य के स्वामी थे। किसी समय मुनि नन्दन ने उनके राज्य में प्रवेश किया और उद्यान में पहुँच कर विश्राम करने लगे। राजा सुरश्रेष्ठ को मुनि नन्दन के पधारने का समाचार मिला। राजा मुनिश्रेष्ठ के दर्शन-वंदन के लिए उद्यान में पहुँचा। दर्शन-वंदन के पश्चात् मुनिश्री ने प्रवचन फरमाया। मुनिश्री की पीयूष-वर्षी वाणी को सुनकर राजा सुरश्रेष्ठ पर गहरा प्रभाव पड़ा। उसके हृदय में वैराग्य के भाव उत्पन्न हुए। परिणामस्वरूप राजा भौतिक पदार्थों और सुखोपभोग को असार मानने लगा। राजा ने अपने राज्य का परित्याग किया और दीक्षाव्रत अंगीकार कर लिया। दीक्षोपरांत मुनि सुरश्रेष्ठ कठोर साधना में संलग्न हो गए और उन्होंने अर्हद् भक्ति आदि बीस स्थानकों की सम्यक् आराधना कर तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन किया। अंत समय में अनशन पूर्वक देह त्याग कर दसवें प्राणत देवलोक में देव रूप में उत्पन्न हुए।

जन्म एवं वंश :

प्राणत देवलोक में देव भव की आयु समाप्त हुई और मुनि सुरश्रेष्ठ का जीव वहाँ से च्युत होकर मगध देशांतर्गत राजगृह नगर के राजा सुमित्र की रानी पद्मावती की कुक्षि में श्रावण शुक्ला पूर्णिमा को श्रवण नक्षत्र में गर्भ रूप से उत्पन्न हुआ। उसी रात्रि में माता रानी पद्मावती ने चौदह महामंगलकारी स्वप्न देखे। इन स्वप्नों के प्रभाव से राज-परिवार में हर्षोल्लास का वातावरण छा गया। स्वप्नशास्त्रियों ने बताया कि ऐसे

स्वप्न देखने वाली माता के गर्भ से चक्रवर्ती अथवा तीर्थंकर का जन्म होता है। इससे समूचे राज्य में असीम प्रसन्नता व्याप्त हो गई।

रानी पद्मावती सावधानीपूर्वक गर्भ का पालन करती रहीं और गर्भकाल पूर्ण होने पर ज्येष्ठ कृष्णा नवमी (ज्येष्ठ कृष्णा अष्टमी भी मिलती है) को श्रवण नक्षत्र में माता ने सुखपूर्वक पुत्ररत्न को जन्म दिया। सर्वप्रथम देवताओं ने और फिर राजा तथा प्रजा ने पुत्र का जन्मोत्सव समारोहपूर्वक पूर्ण हर्षोल्लासमय वातावरण में मनाया।

नामकरण :

नामकरण वाले दिन राजा सुमित्र ने बताया कि जब बालक अपनी माता के गर्भ में आया तभी से उसकी विधिपूर्वक व्रत-पालन की भावना रही और वह एक मुनि की भांति व्रत का पालन करती रही। इसलिये बालक का नाम मुनिसुव्रत रखना उचित लगता है। वहाँ उपस्थित सभी महानुभावों ने इस नाम का समर्थन किया। इस प्रकार बालक का नाम मुनिसुव्रत रखा गया।

गृहस्थ-जीवन और राज्य :

मुनिसुव्रत के तरुणावस्था में कदम रखते ही पिता राजा सुमित्र ने अपने पुत्र का विवाह करने का विचार किया। राजा सुमित्र ने अनेक रूपवती एवं युवा राजकन्याओं के साथ अपने पुत्र का विवाह किया। इनमें प्रभावती प्रमुख थी। अपने पुत्र को राज्य भार सौंपकर राजा सुमित्र ने दीक्षाव्रत अंगीकार कर लिया और आत्म-कल्याण की साधना में लीन हो गया।

मुनिसुव्रत ने राज्य पाकर उत्तम रीत्यनुसार उसका संचालन किया। उन्होंने राज्य की और प्रजा की समस्त समस्याओं का समाधान कर दिया और उनका जीवन भी मर्यादित बना दिया। राज्य में अव्यवस्था कहीं भी देखने को नहीं मिलती थी। प्रजा सर्वप्रकार से सुखी थी। सभी प्रकार का सुख-वैभव प्राप्त कर भी मुनिसुव्रत उसके प्रति अनासक्त ही बने रहे। उन्होंने जो कुछ भी किया, वह केवल अपना कर्तव्य समझकर किया।

भोग-कर्म समाप्त हुए और मुनिसुव्रत के हृदय में संयम अंगीकार करने की भावना उत्पन्न हुई। इसी समय लोकांतिक देवों ने आकर भगवान् से धर्म-प्रवर्तन करने की विनती की। भगवान् मुनिसुव्रत ने अपने उत्तराधिकारी का राज्याभिषेक किया और वर्षीदान देने लगे।

दीक्षा एवं केवलज्ञान :

वर्षीदान की समाप्ति के पश्चात् फाल्गुन शुक्ला द्वादशी (फाल्गुन कृष्णा अष्टमी भी मिलती है) को अपराजिता नामक पालकी में विराजकर दीक्षार्थ अभिनिष्क्रमण किया। भगवान् नीलगुहा उद्यान में पधारे और वहाँ समस्त सांसारिक चिह्नों का परित्याग किया। फिर षष्ठभक्त तप में भगवान् ने समस्त पाप कर्मों का परित्याग कर एक हजार राजाओं के साथ दीक्षाव्रत अंगीकार कर लिया। उसी समय भगवान् मुनिसुव्रत को मनःपर्यवज्ञान की उपलब्धि हुई।

अगले दिन भगवान् मुनिसुव्रत का पारणा प्रजा ब्रह्मदत्त के यहाँ परमान्न से हुआ। देवताओं ने पंच दिव्य बरसा कर दान की महिमा प्रकट की।

पारणा सम्पन्न होने के पश्चात् भगवान् ने राजगृही से विहार कर दिया। भगवान् ग्यारह मास तक ग्रामानुग्राम विचरण करते रहे। इस अवधि में भगवान् ने अनेक बाह्य एवं आन्तरिक तपों की आराधना की। फिर भगवान् अपने दीक्षा स्थल पधारे और चम्पा वृक्ष के नीचे ध्यानावस्थित हो गए। शुक्लध्यान की चरम सीमा में पहुँचकर भगवान् ने घाति-कर्मों का क्षय कर केवलज्ञान-केवल-दर्शन की उपलब्धि की। देवताओं ने भगवान् का केवलज्ञान महोत्सव मनाया और फिर दिव्य समवसरण की रचना की।

देव-निर्मित समवसरण में विराजकर भगवान् मुनिसुव्रत ने अपनी प्रथम देशना दी। आपकी देशना से प्रेरणा प्राप्तकर अनेक भव्य प्राणियों ने दीक्षा ग्रहण कर ली और अनेक प्राणियों ने श्रावक धर्म स्वीकार किया। इस प्रकार भगवान् चतुर्विध संघ की स्थापना कर भाव तीर्थंकर कहलाये।

परिनिर्वाण :

भगवान् का कुल आयुष्य तीस हजार वर्ष था। अपना अंतिम समय निकट जानकर भगवान् मुनिसुव्रत एक हजार मुनियों के साथ सम्मेत शिखर पर पधारे और एक मास के अनशन से उन्होंने समस्त शेष कर्मों का क्षय करके निर्वाण प्राप्त किया। भगवान् सिद्ध-बुद्ध और मुक्त हो गये।

मर्यादा पुरुषोत्तम राम भगवान् मुनिसुव्रत के समय के आठवें बलदेव और उनके अनुज लक्ष्मण वासुदेव हुए। इनका विस्तृत विवरण पद्म चरित्र और पद्म पुराण में मिलता है। राम का अपरनाम पद्म भी था। राम ने अपनी उत्कृष्ट साधना से सिद्धि प्राप्त की थी और सीता का जीव बारहवें स्वर्ग का अधिकारी हुआ था।

धर्म-परिवार :

भगवान् मुनिसुव्रत के धर्म-परिवार का विवरण इस प्रकार है—

गणधर	१८
केवली	१,८००
मनःपर्यवज्ञानी	१,५००
अवधिज्ञानी	१,८००
चौदह पूर्वधारी	५००
वैक्रियलब्धिधारी	२,०००
वादी	१,२००
साधु	३०,०००
साध्वी	५०,०००
श्रावक	१,७२,०००
श्राविका	३,५०,०००

□□□

२१ भगवान् नमिनाथ

नीलकमल

इक्कीसवें तीर्थंकर भगवान् नमिनाथ हुए।

पूर्वभव :

प्राचीनकाल में कौशाम्बी नामक एक ऐतिहासिक नगरी थी। इस नगरी के राजा सिद्धार्थ एक अच्छे शासक थे। अपनी प्रशासनिक कुशलता के कारण उन्होंने कौशांबी में उत्तम व्यवस्था कर रखी थी। उनके राज में प्रजा सभी प्रकार से सुखी थी। दैनिक उपभोग की किसी भी वस्तु का अभाव नहीं था। प्रजा में आपसी विग्रह भी नहीं था।

राजा सिद्धार्थ अवकाश के क्षणों में चिंतन कर रहे थे। चिंतन के क्रम में संसार की नश्वरता का बिन्दु भी आ गया और इस विषय पर आते ही वे विरक्त हो गए। उन्होंने संयम व्रत अंगीकार कर अपना मानव जीवन सफल बनाने का विचार किया। उसी समय उन्हें सूचना मिली कि सुदर्शन मुनि पधारे हैं और उद्यान में विराजमान हैं। इस सूचना से राजा सिद्धार्थ विमुग्ध हो गये। वे मुनिश्री की सेवा में पहुँचे। दर्शन-वंदन किया।

तत्पश्चात् अपने उत्तराधिकारी को प्रज्य सौंप कर वे सुदर्शन मुनि के चरणों में दीक्षित हो गए। सिद्धार्थ मुनि ने कठोर तपाराधना की। रुग्ण साधुओं की वैय्यावृत्य विशेष रूप से की। अपनी उत्कृष्ट साधना के द्वारा उन्होंने तीर्थंकर नाम-कर्म का उपार्जन किया। अंत समय में अपनी देह का त्याग कर अपराजित स्वर्ग में देव रूप में उत्पन्न हुए।

जन्म एवं वंश :

प्राचीन काल में मिथिला नगरी अपनी वैभव सम्पन्नता के लिए विख्यात थी। उन दिनों मिथिला नगरी पर राजा विजयसेन का राज था। उनकी रानी का नाम वप्रादेवी था। रानी वप्रादेवी शीलवती और सद्गुणी थी। अपने गुणों के कारण रानी प्रजा में भी लोकप्रिय थी। जब स्वर्ग में राजा सिद्धार्थ के जीव की आयु पूर्ण हुई तो वह वहाँ से च्युत होकर आश्विन शुक्ला पूर्णिमा के दिन अश्विनी नक्षत्र में रानी वप्रादेवी की कुक्षि में पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ। इसी रात्रि में रानी वप्रादेवी ने महामंगलकारी चौदह स्वप्न देखे। स्वप्नों के फल जानकर राजमहल में हर्षोल्लास का वातावरण छा गया। रानी वप्रादेवी ने पूरी सावधानी के साथ गर्भ का पालन किया।

गर्भकाल पूर्ण होने पर श्रावण कृष्णा अष्टमी को अश्विनी नक्षत्र में रानी वप्रादेवी ने सर्वांग सुन्दर पुत्ररत्न को बिना किसी पीड़ा के सुखपूर्वक जन्म

दिया। देवताओं ने जन्मोत्सव मनाया। राजा विजयसेन और राज्य की प्रजा ने भी पूर्ण हर्ष, उल्लास एवं उमंग के साथ राजकुमार का जन्मोत्सव मनाया।

नामकरण :

बारहवें दिन नामकरण के लिए सभी परिजन, मित्र तथा नगर के प्रतिष्ठित महानुभाव एकत्र हुए। इस अवसर पर राजा विजयसेन ने बताया कि जब बालक अपनी माता के गर्भ में था तब शत्रुओं ने मिथिला पर आक्रमण कर मिथिला को घेर लिया था। संकट के इन क्षणों में माता राजमहल के ऊँचे स्थान पर पहुँची और वहाँ से चारों ओर अपनी सौम्यदृष्टि बिखेरते हुए शत्रुओं को देखा। इससे शत्रु राजाओं के हृदय परिवर्तित हो गए। सभी शत्रु उनके चरणों में आकर झुक गए। शत्रुओं ने आकर नमन किया। इस कारण बालक का नाम नमि रखा जाना उचित होगा। सभी ने नमि नाम पर अपनी सहमति व्यक्त की।

गृहस्थ-जीवन एवं राज्य :

राजकुमार नमि युवा हुए। पिता राजा विजयसेन ने अपने पुत्र को युवा जानकर उसका पाणिग्रहण अनेक सुन्दर-युवा राजकुमारियों से सम्पन्न करवाया। कालांतर में राजा विजयसेन ने समारोहपूर्वक राजकुमार नमि का राज्याभिषेक कर राज्य की बागडोर सौंपी और स्वयं ने संयम मार्ग स्वीकार कर लिया।

महाराजा नमि ने कुशलतापूर्वक राज्य का संचालन कर प्रजा में अपनी लोकप्रियता को और अधिक बढ़ा लिया। लगभग पांच हजार वर्ष तक राज करते हुए उन्होंने प्रजा का पालन किया। इस अवधि में आत्म-कल्याण के लिए वे सतत चिंतन करते रहे। उनके भोगावली कर्म समाप्त हुए और विरक्ति के भाव जागृत हुए। वास्तविकता तो यह थी कि भोग-कर्म के रहते हुए भी वे निर्लिप्त भाव से राज कर रहे थे। अन्यथा सांसारिक विषयों के प्रति उनकी कोई रुचि नहीं थी। इसी समय लोकांतिक देवों ने धर्म-प्रवर्तन के लिए विनती की। राजा नमि ने अपने उत्तराधिकारी राजकुमार सुप्रभ को राज्य सौंपा और स्वयं वर्षीदान देने लगे।

दीक्षा एवं केवलज्ञान :

वर्षीदान की समाप्ति के पश्चात् आषाढ कृष्णा नवमी को नमिनाथ ने एक हजार राजकुमारों के साथ दीक्षार्थ अभिनिष्क्रमण किया और वे सहस्राम्रवन में पधारे। यहाँ उन्होंने षष्ठ भक्त की तपस्या में विधिवत् समस्त पापों का परित्याग कर दीक्षा ग्रहण कर ली।

यहाँ से विहार कर भगवान् नमिनाथ वीरपुर पधारे जहाँ राजा दत्त के यहाँ परमान्न से उनका पारणा हुआ। देवताओं ने पंच दिव्य की वर्षाकर दान की महिमा बताई।

भगवान् नमिनाथ नौ मास तक छद्मस्थावस्था में विभिन्न प्रकार की तपस्या करते हुए विचरण करते रहे फिर उसी उद्यान में पधार कर मौरसली वृक्ष के नीचे ध्यानमग्न हो गए। शुक्लध्यान की प्रचण्ड अग्नि में सम्पूर्ण घाति कर्मों

की निर्जरा कर मिगसिर कृष्णा एकादशी को केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त किया और भाव-अरिहन्त कहलाये।

देव निर्मित समवसरण में विराजकर केवली भगवान् नमिनाथ ने देवासुर और मानवों की विशाल धर्मसभा में आपने अपनी प्रथम धर्म देशना दी। भगवान् की धर्म-देशना से प्रेरित होकर अनेक व्यक्तियों ने दीक्षा व्रत अंगीकार किया और अनेक ने श्रावक धर्म स्वीकार किया। इस प्रकार चतुर्विध संघ की स्थापना कर भगवान् भाव-तीर्थंकर कहलाये।

परिनिर्वाण :

अपना मोक्षकाल सन्निकट जानकर भगवान् एक हजार मुनियों के साथ सम्मेतशिखर पर पधारे और अनशन ग्रहण कर लिया। वैशाख कृष्णा दशमी को अश्विनी नक्षत्र में एक मास के अंत में समस्त कर्मों की निर्जरा कर भगवान् सिद्ध-बुद्ध और मुक्त हुए। उन्होंने निर्वाण पद प्राप्त कर लिया। आपकी पूर्ण आयु दस हजार वर्ष थी।

यह उल्लेख करना प्रासंगिक होगा कि तीर्थंकर नमिनाथ और मिथिला के नमि राजर्षि एक नहीं भिन्न-भिन्न हैं। तीर्थंकर नमिनाथ महाराज विजयसेन के पुत्र और स्वयंबुद्ध हैं। जबकि नमिराज सुदर्शनपुर के युवराज युगबाहु के पुत्र और प्रत्येकबुद्ध हैं।

नमिराज दाह रोग से पीड़ित थे। दाह शांति के लिए चंदन घिसती हुई रानियों के करों में एक-एक चूड़ी देखकर के प्रतिबोधित हुए थे।

धर्म-परिवार :

भगवान् नमिनाथ के धर्म परिवार का विवरण इस प्रकार है—

गणधर	१७
केवली	१,६००
मनःपर्यवज्ञानी	१,२०८
अवधिज्ञानी	१,६००
चौदह पूर्वधारी	४५०
वैक्रियलब्धिधारी	५,०००
वादी	१,०००
साधु	२०,०००
साध्वी	४१,०००
श्रावक	१,७०,०००
श्राविका	३,४८,०००

□□□

२२ भगवान् अरिष्टनेमि

शंख

भगवान् अरिष्टनेमि बाईसवें तीर्थंकर हुए। इन्होंने कुमारावस्था में प्रव्रज्या अंगीकार की थी। आपके अरिष्टनेमि और नेमिनाथ दो नाम प्रचलन में हैं।

पूर्वभव :

भगवान् अरिष्टनेमि के नौ भवों का विवरण उपलब्ध होता है। उन दिनों हस्तिनापुर पर राजा श्रीषेण का राज था। राजा श्रीषेण की रानी श्रीमती की कुक्षि से शंख के समान उज्ज्वल वर्ण वाले पुत्र रत्न का जन्म होने से उसका नाम शंख रखा गया।

एक समय जब राजकुमार शंख अपने मित्रों के साथ खेल रहे थे, उसी समय कुछ लोग राजा श्रीषेण के पास आए और दुःखी वाणी में निवेदन किया कि सीमा पर पल्लीपति समरकेतु ने लूट मचा रखी है। उससे सीमावासी काफी आतंकित एवं भयभीत हैं। यदि समय पर प्रभावी कार्रवाई नहीं की गई तो राज्य का वह भाग शत्रु के हाथ में चला जायेगा। आप जैसे शूरवीर, पराक्रमी राजा के होते हुए प्रजा दुःखी हो तो फिर और क्या आशा की जा सकती है।

राजा श्रीषेण अपनी प्रजा की विनती सुनकर आवेश में आ गए और सेना तैयार कर सीमा पर जाने के लिए तत्पर हो गए। जब राजकुमार शंख को यह सूचना मिली तो वह अपने पिता राजा श्रीषेण के सम्मुख उपस्थित हुआ और बोला, "पितश्री मेरे रहते हुए आप एक सामान्य पल्लीपति से युद्ध करने के लिए जाएँ, यह हमारे लिये सम्मानजनक नहीं है। आप हमें आज्ञा दीजिये। हम युद्ध-कौशल भी सीख लेंगे और पल्लीपति को भी ठिकाने लगा देंगे। यदि हमें अनुमति नहीं मिलती है तो फिर हमारा उपयोग ही क्या? हमारे होने का अर्थ ही क्या ? राजा श्रीषेण ने राजकुमार को अनुमति दे दी।

राजकुमार शंख ने अपने कौशल से अपनी सेना की सहायता से पल्लीपति को घेर लिया। पल्लीपति ने जो धन लूटा था, वह सब उनके वास्तविक स्वामियों को सौंप दिया और पल्लीपति को बन्दी बनाकर राजा श्रीषेण के सम्मुख उपस्थित करने के लिए चल पड़ा।

मार्ग में एक विद्याधर मिला जो जितारि की कन्या यशोमति का अपहरण कर ले जा रहा था। शंख ने विद्याधर को परास्त कर यशोमति को मुक्त करवाया। यशोमति राजकुमार शंख की शूरवीरता पर मुग्ध हो गई और उसने उसका वरण कर लिया।

राजा श्रीषेण के समक्ष राजकुमार शंख ने जब पल्लीपति को प्रस्तुत किया तो वे काफी प्रसन्न हुए। उन्होंने अपने पुत्र को सर्वप्रकारेण योग्य जानकर उसका राज्याभिषेक कर दिया और स्वयं ने प्रव्रज्या अंगीकार कर ली। मुनि श्रीषेण ने कठोर साधना करते हुए घाति-कर्मों की निर्जरा करते हुए केवलज्ञान का उपार्जन किया।

राजा शंख एक बार मुनिश्री की सेवा में पहुंचे। दर्शन-वंदन करने के पश्चात् राजा शंख ने प्रश्न किया। भगवन्! मैं स्वयं संयम लेना चाहता हूँ किन्तु यशोमति के प्रति विशेष स्नेह होने के कारण ऐसा कर नहीं पा रहा हूँ। ऐसा क्यों?

केवली मुनि भगवंत ने जो बताया उसका सार इस प्रकार है—

(१) धनकुमार के भव में दोनों पति-पत्नी थे।

(२) सौधर्म देवलोक में पति-पत्नी रूप में रहे।

(३) तीसरे भव में चित्रगति और रत्नावती पति-पत्नी थे॥

(४) चौथे भव मे महेन्द्र देवलोक में दोनों मित्र थे।

(५) अपराजित के भव मे दोनों पति-पत्नी थे।

(६) छठे भव में आरण देवलोक में दोनों देव रूप में थे।

(७) सातवें भव में तुम दोनों पति-पत्नी के रूप में अभी हो।

तुम दोनों का सम्बन्ध सुदीर्घकाल से चला आ रहा है। भविष्य में देवभव का अपना आयुष्य पूर्ण कर उसके पश्चात् बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ के रूप में तुम जन्म लोगे।

अपने पूर्व-भव का विवरण सुनकर राजा शंख विरक्त हुआ और अपने पुत्र का राज्याभिषेक कर बन्धु-बान्धवों के साथ दीक्षाव्रत अंगीकार कर लिया। दीक्षोपरान्त मुनि शंख ने कठोर साधना की। तप-संयम के साथ अर्हत्, सिद्ध, साधु की भक्ति में उत्कृष्ट अभिरुचि और उत्कट भावना के साथ निरत रहने के कारण उन्हें तीर्थंकर नामकर्म की उपलब्धि हुई। अंत समय में अपनी देह का त्याग कर वे अपराजित विमान में अहमिन्द्र के रूप में अनुत्तर वैमानिक देव बने।

जन्म एवं वंश :

प्राचीन काल में यमुना नदी के तट पर शौर्यपुर नामक राज्य था। जिस समय शौर्यपुर पर राजा समुद्रविजय का राज था। उस समय राजा शंख का जीव अपने देव-भव की आयु पूर्णकर कार्तिक कृष्णा द्वादशी को चित्रा नक्षत्र के योग में अपराजित विमान से च्युत होकर राजा समुद्रविजय की रानी शिवा देवी की कुक्षि में उत्पन्न हुआ। रानी शिवादेवी धर्मपरायणा नारी थीं। उसी रात्रि में रानी शिवादेवी ने महामंगलकारी चौदह स्वप्न देखे। स्वप्नों का परिणाम जानकर राजा-रानी आदि सभी अति हर्षित हुए। रानी शिवादेवी उचित आहार-विहार से गर्भ का सावधानीपूर्वक पालन करने लगी।

गर्भकाल पूर्ण हुआ और माता रानी शिवादेवी ने श्रावण शुक्ला पंचमी को चित्रा नक्षत्र में सुखपूर्वक सर्वांगसुन्दर पुत्ररत्न को जन्म दिया। देव-देवेन्द्रों ने बालक का जन्मोत्सव मनाया। राजा समुद्रविजय ने और राज्य की प्रजा ने भी राजकुमार का जन्मोत्सव धूमधाम से मनाया। याचकों को मनोवांछित दान भी दिया गया।

नामकरण :

अरिष्टनेमि का स्वर उत्तम था। वे एक हजार आठ शुभ लक्षणों के धारक बने थे। उनका गोत्र गौतम था। वे श्यामवर्णी थे। उनकी मुखाकृति मन को आकर्षित करने वाली थी। उनका उदर मछली जैसा था। शारीरिक संहनन वज्र-सा दृढ़ संस्थान आकार सम चतुरस्र था। उनका शारीरिक बल देवताओं आदि से भी अधिक था।

नामकरण वाले दिन राजा समुद्रविजय ने अपने परिजनों, मित्रों एवं प्रतिष्ठित महानुभावों को आमंत्रित किया। उनके लिए उत्तम प्रकार के भोजन की व्यवस्था की। नामकरण का प्रसंग उपस्थित होने पर उन्होंने बताया कि जब बालक माता के गर्भ में था तब हम सब प्रकार के अरिष्टों से बचे रहे। साथ ही माता ने अरिष्ट रत्नमय चक्र नेमि का दर्शन किया। इस कारण बालक का नाम अरिष्टनेमि रखा जाना उचित लगता है। सभी उपस्थितों ने राजा समुद्रविजय के प्रस्ताव पर अपनी सहमति व्यक्त की।

हरिवंश की उत्पत्ति :

राजा समुद्रविजय हरिवंश के थे। यहाँ हरिवंश की उत्पत्ति का विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

बात दसवें तीर्थंकर भगवान् शीतलनाथ के समय की है। उस समय कौशाम्बी नगरी में सुमुख नामक राजा था। इस नगरी में वीरक नामक एक

युवक रहता था। वह विवाहित था और उसकी पत्नी का नाम वनमाला था। राजा वनमाला के प्रति आसक्त हो गया और उसे अपने पास प्रच्छन्न रूप से रख लिया। कुछ समय बाद वनमाला राजा की परमप्रिया महारानी बन गई। वनमाला का पति वीरक पत्नी के वियोग में विक्षिप्त अवस्था में रहने लगा और फिर बाल तपस्वी हो गया। किसी समय राजा सुमुख वनमाला को साथ लेकर वन भ्रमण के लिये गया। भ्रमण के समय संयोग से उसकी दृष्टि वीरक पर पड़ी। उसकी दयनीय दशा देखकर राजा सुमुख को अपने किये का दुःख हुआ। वह पश्चात्ताप करने लगा। वह सोचने लगा कि उसके कारण ही वीरक की यह दुर्गति हुई है। उसने जो कुछ भी किया, उचित नहीं किया। इसे कितना कष्ट हो रहा है। वनमाला ने भी अपने पूर्व पति को देखा तो वह भी दुःखी हुई। वह भी पश्चात्ताप करने लगी। इस कारण दोनों को मनुष्य आयु का बंध हुआ। जिस समय दोनों अपने कृत्य पर पश्चात्ताप कर रहे थे, उसी समय बिजली गिरी और दोनों का प्राणांत हो गया। मृत्यु के उपरांत दोनों यौगलिक भूमि हरिवास में युगल रूप में उत्पन्न हुए।

वीरक जीवन भर अज्ञान तप करता रहा था। अतः वह मरकर प्रथम सौधर्म देवलोक में किल्विषी देव के रूप में उत्पन्न हुआ। उसने अपने ज्ञान से देखा कि उसकी पत्नी और उसका शत्रु राजा सुमुख दोनों साथ रहते हुए भोगभूमि में सुखोपभोग कर रहे हैं तो वह क्रोधित हो उठा। पहले तो उसने विचार किया कि दोनों को यहीं मार दिया जाये। फिर उसने सोचा कि वह पहले ही पाप करके यहाँ उत्पन्न हुआ है। इन दोनो को मौत के घाट उतारने से कोई कार्य सिद्ध तो होने वाला नहीं है। इससे तो इनको कर्मबंध वाले स्थान पर पहुंचा देना उचित रहेगा। इन्हें किसी राज्य का राजा बनाकर मद्य-मांस-भोगी बना दूं, जिससे बाद में ये नरक के दुःख भोगें।

उसी समय चम्पा-नरेश का देहावसान हुआ था। वे निःसंतान थे। इस कारण अभी तक उनका सिंहासन रिक्त ही था। राज्य-प्राप्ति के लिये परस्पर संघर्ष चल रहा था। इस स्थिति को देव (वीरक) ने समझा और आकाशवाणी की—"चम्पा के राजा की समस्या का समाधान मैं कर रहा हूँ। एक युगल को भेज रहा हूँ। उनका राज्याभिषेक कर उन्हें मद्य-मांस युक्त भोजन करवाओ।"

"इस नये राजा के लिये भोग-विलास की सभी प्रकार की सामग्री प्रस्तुत कर देना। साथ ही इन्हें राजकीय कार्य में व्यस्त भी रखना। ऐसा करने से तुम्हारे राज्य की प्रगति होगी, समृद्धि होगी।"

देववाणी के अनुसार चम्पा की प्रजा ने राज्याभिषेक किया। सभी प्रकार की भोग सामग्री की व्यवस्था की, दोनों पूरी तरह भोग में लिप्त रहे और यहाँ की आयुष्य पूरी करके नरक में उत्पन्न हुए।

यह आश्चर्यजनक घटना है। कारण कि यौगलिकों का नरक-गमन नहीं होता। इसी हरिवास युगल से हरिवंश की उत्पत्ति हुई। इस हरिवंश में अनेक प्रतापी पराक्रमी और धर्मात्मा राजा हुए हैं। कुछ राजाओं के नाम इस प्रकार है—पृथ्वीपति, महागिरि, हिमगिरि, वसुगिरि, दक्ष, महेन्द्रदत्त, शंख, वसु आदि। बीसवें तीर्थंकर भगवान् मुनिसुव्रत भी इसी हरिवंश में हुए।

राजा समुद्रविजय के कुल का परिचय इस प्रकार बनता है—महाराज सौरी के दो पुत्र थे—अंधक वृष्णि और भोगवृष्णि। अंधक वृष्णि के समुद्रविजय, अशोक, स्तमित, सागर, हिमवान, अचल, धरण, पूरण, अभिचंद और वसुदेव ये दस पुत्र थे, जो दशार्ह नाम से प्रसिद्ध हुए। समुद्रविजय और वसुदेव विशेष प्रभावशाली थे। समुद्रविजय न्यायप्रिय, उदार एवं प्रजावत्सल थे। वसुदेव अपने पराक्रम के कारण देश-विदेश में प्रसिद्ध थे।

समुद्रविजय के चार पुत्र थे—यथा; अरिष्टनेमि, रथनेमि, सत्यनेमि, एवं दृढ़नेमि। वसुदेव के मुख्य दो पुत्र थे—कृष्ण व बलराम। कृष्ण की माता का नाम देवकी और बलराम की माता का नाम रोहिणी था। इस प्रकार अरिष्टनेमि और श्री कृष्ण चचेरे भाई थे।

बाल्यकाल :

कुमार अरिष्टनेमि जन्म से ही अवधिज्ञान के धारक थे। फिर भी वे बाल सुलभ क्रीड़ाएँ करते रहते थे। उनके प्रत्येक कार्य से उनके अद्‌भुत बुद्धिशाली होने और शक्तिसम्पन्न होने का परिचय मिलता रहता था। उनकी बाल-सुलभ लीलाओं को देखकर न केवल माता-पिता अपितु प्रत्येक दर्शक अनुमान लगाने लगता कि यह बालक भविष्य में अद्‌भुत शक्तिशाली एवं पराक्रमी निकलेगा। यह कहावत सहज ही स्मरण हो आती है कि पूत के पांव पालने में नजर आते हैं। उनके प्रत्येक कार्य को देख-देख कर दर्शक विस्मित हो जाता था।

ऐसा ही एक प्रसंग है। बालक अरिष्टनेमि राजमहल में खेल रहे थे। खेल-खेल में उन्होंने मोतियों को मुट्ठी में भरकर उछाल दिया, मोती इधर-उधर बिखर गये। अपने पुत्र के इस कार्य को देखकर माता शिवा देवी उसे कुछ कहना ही चाह रही थी कि तभी उन्होंने देखा कि जहाँ-जहाँ मोती गिरे थे वहाँ-वहाँ मोती के अनुपम वृक्ष उग गये हैं और उन पर फलों के रूप में मोती लदे हुए हैं। यह सब देखकर माता शिवा देवी आश्चर्यचकित रह गई। एकाएक

उन्हें अपनी आँखों पर विश्वास नहीं हो पा रहा था, किंतु जो प्रत्यक्ष हो उस पर तो विश्वास करना ही पड़ता है। कुछ क्षणों तक माता इस अनहोनी को अपलक नेत्रों से देखती रही। फिर अपने पुत्र को सम्बोधित कर कहा-"कुछ मोती और बो दो।"

"जो मोती समय पर बोये जाते हैं वे ही फलदायी होते हैं।" कुमार ने सहज ही उत्तर दिया। तभी से यह कहावत प्रचलन में आ गई।

जरासंध ने द्वारिका पर आक्रमण कर दिया। वह अपना प्रतिशोध लेना चाहता था। घमासान युद्ध हुआ। अरिष्टनेमि चाहते तो अकेले ही जरासंध का वध कर सकते थे किंतु उसका वध श्रीकृष्ण के हाथों से ही होना चाहिए। इस तथ्य से वे अच्छी प्रकार परिचित थे। श्रीकृष्ण ने अपने पूरे पराक्रम के साथ युद्ध किया और उन्होंने जरासंध का वध कर दिया। यद्यपि इस युद्ध में अरिष्टनेमि भी सम्मिलित हुए थे तथापि उन्होंने युद्ध में किसी का भी वध नहीं किया।*

अपरिमित/अद्भुत शक्ति के स्वामी :

अभी अरिष्टनेमि बाल्यावस्था में ही थे। घूमते-फिरते वे एक बार श्रीकृष्ण की आयुधशाला में पहुंच गए। वहाँ उन्होंने श्रीकृष्ण का सुदर्शन चक्र देखा। सुदर्शन चक्र के सम्बन्ध में कहा गया कि इसे श्रीकृष्ण के अतिरिक्त अन्य और कोई उठा ही नहीं सकता। यही बात अरिष्टनेमि को भी बताई गई। उन्होंने पलक झपकते ही सुदर्शन चक्र को अपनी अंगुली पर उठा लिया। यह देखकर आयुधशाला के कर्मचारी हतप्रभ रह गये। उन्होंने अपने-आपको सम्हाल कर निवेदन किया—"कुमार! इसे आप यथास्थान रख दीजिये अन्यथा अनर्थ हो जायेगा।" आयुधशाला के कर्मचारी की बात सुनकर उन्होंने चक्र को यथा-स्थान रख दिया। वे आयुधशाला में घूमकर इसका निरीक्षण करने लगे। इसी बीच उनकी दृष्टि श्रीकृष्ण के पांचजन्य शंख पर पड़ी। उन्होंने शंख उठाया और फूंक दिया। शंख की दिव्य ध्वनि द्वारिका में गूंज उठी। अपने पाञ्चजन्य शंख की दिव्य ध्वनि श्रीकृष्ण ने भी सुनी।

वे आश्चर्यचकित रह गये। कारण यह था कि उनके अतिरिक्त उनके शंख को और कोई भी व्यक्ति बजा नहीं सकता था। इस कारण उन्हें यह आशंका हुई कि द्वारिका में कोई अन्य वासुदेव जन्म ले चुका है। वे तीव्र वेग से चलकर आयुधशाला में आए। यहाँ आते ही उन्होंने देखा कि अरिष्टनेमि उनके धनुष बाण की प्रत्यञ्चा टंकार रहे थे। श्रीकृष्ण सब कुछ समझ गए।

* हेमचन्द्राचार्य के अनुसार जरासन्ध ने जरा विद्या के प्रयोग से कृष्ण की समस्त सेना को जरा पीड़ित कर दिया। उस समय वेणिकुमार के निर्देश से कृष्ण ने देवाराधन कर देवलोक से भावी तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ प्रतिमा प्राप्त की और उसके स्नानजल का छिड़काव करने से जरा विद्या के प्रभाव से मुक्ति मिल गई। सहर्ष श्रीकृष्ण ने शंख ध्वनि की। उसी स्थान पर शंखेश्वर तीर्थ की स्थापना हुई।

बल-परीक्षण :

आयुधशाला में जो कुछ भी अरिष्टनेमि ने किया था, उससे उनकी शक्ति का परिचय मिल गया था। फिर भी श्रीकृष्ण ने अरिष्टनेमि से कहा कि वे उनके बाहुबल का परीक्षण करना चाहते हैं। अरिष्टनेमि ने सहमति प्रकट कर दी। दोनों व्यायामशाला पहुँच गए। दोनों की शक्ति-परीक्षण की बात राजमहल मे फैल गई। अनेक व्यक्ति इस स्पर्धा को देखने के लिए व्यायामशाला में जा पहुँचे। व्यायामशाला में पहुँचकर श्रीकृष्ण ने अपनी एक भुजा लम्बी कर अरिष्टनेमि से कहा कि इसे नीचे झुकाओ। अरिष्टनेमि ने पलक झपकते ही कमल नाल की भांति श्रीकृष्ण की भुजा को झुका दिया। वहाँ एकत्र जन-समुदाय मुक्तकंठ से अरिष्टनेमि के शक्ति की भूरि-भूरि प्रशंसा कर उठा।

अब अरिष्टनेमि ने अपनी भुजा फैलाई। श्रीकृष्ण उसे झुकाने लगे। श्रीकृष्ण ने अपनी पूरी शक्ति का उपयोग कर लिया। वे अरिष्टनेमि की भुजा पर झूल गये किंतु फिर भी वे भुजा को झुका नहीं सके। बल परीक्षण में श्रीकृष्ण अरिष्टनेमि से परास्त हो गए। उन्होंने अरिष्टनेमि की शक्ति की प्रशंसा भी की किन्तु मन ही मन उन्हें क्षोभ हुआ वे। काफी सोच-विचार के उपरांत इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि कुमार अरिष्टनेमि की शक्ति का रहस्य उनके ब्रह्मचर्य में है।

विवाह-प्रसंग :

अरिष्टनेमि युवा हुए तो माता-पिता ने उनका विवाह करना चाहा। उनके समक्ष विवाह का प्रस्ताव रखा गया। अनेक बार आग्रह करने पर भी उन्होंने अपनी स्वीकृति नहीं दी। इस पर सब निराश हो गये। तब श्रीकृष्ण ने एक उपाय खोज निकाला। उन्होंने अपनी समस्त रानियों को कहा कि किसी भी प्रकार अरिष्टनेमि को विवाह के लिए सहमत कर लो। श्रीकृष्ण की प्रेरणा पाकर रानियों ने वसंतोत्सव का आयोजन किया। अरिष्टनेमि को भी इस आयोजन में सम्मिलित किया गया।

श्रीकृष्ण की रानियों ने अरिष्टनेमि के हृदय में नारी के प्रति आसक्ति उत्पन्न करने के अनेकविध प्रयास किये। उनके मन में कामभावना जाग्रत करने के प्रयत्न किये किन्तु वे अपने प्रयासों में असफल रहीं। अरिष्टनेमि अडिग बने रहे, अनासक्त बने रहे। निराश रानियाँ कुमार अरिष्टनेमि से विनती करने लगीं—"हमारे यदुकुल में कोई भी अविवाहित नहीं रहा। साधारण व्यक्ति भी कई-कई कन्याओं से विवाह करता है। आप वासुदेव के अनुज हैं। आश्चर्य है कि आप अभी तक अविवाहित हैं। आपके मन में अभी तक स्त्री के प्रति

आकर्षण उत्पन्न नहीं हुआ है। आपका अविवाहित रहना अपने वंश की प्रतिष्ठा के अनुकूल नहीं है। हमारी सम्मति है कि आप विवाह कर लें। विवाह के लिए अपनी स्वीकृति प्रदान कर दें। कुमार अरिष्टनेमि ने रानियों की बात को सुना। उन्होंने उत्तर तो नहीं दिया किंतु तनिक मुस्करा दिये। उनके मुस्कराने का अर्थ रानियों ने यह लगाया कि कुमार विवाह करने के लिए सहमत हो गए हैं। रानियों ने यह घोषणा कर दी कि कुमार अरिष्टनेमि विवाह करने के लिए सहमत हो गए हैं। उनकी स्वीकृति मिल गई है।

कुमार अरिष्टनेमि की विवाह के लिए स्वीकृति हो जाने के पश्चात् श्रीकृष्ण ने उनके योग्य राजकन्याओं के लिए सोचना शुरु कर दिया और सत्यभामा की छोटी बहन राजीमती को सभी प्रकार से उनके अनुकूल पाकर उसके पिता उग्रसेन के पास विवाह प्रस्ताव भेजा। उग्रसेन ने इस प्रस्ताव को सहज ही स्वीकार कर लिया। कुमार अरिष्टनेमि की ओर से इस प्रकार के प्रयासों का कोई विरोध भी नहीं किया गया।

विवाह की तैयारियाँ शुरू हो गयीं। श्रीकृष्ण के मन में यह आशंका थी कि कहीं कुमार विवाह के लिए इनकार न कर दें। इस कारण उन्होंने विवाह के लिए श्रावण शुक्ला षष्ठि का दिन निश्चित कर दिया। द्वारिका नगरी को सजाया गया। उसका एक-एक घर, एक-एक गली सजाई गई। मंगल गीतों की स्वर लहरियाँ गूंज उठी, वाद्य यंत्र बज उठे। दूल्हे को सजाया जाने लगा। इन तैयारियों के साथ बारात सजी। बारात की शोभा को शब्दों में बांध पाना कठिन है। ऐसी बारात सजी जो लोगों ने अपने जीवन में कभी देखी नहीं थी और सम्भावना यह व्यक्त की गई कि भविष्य में ऐसी बारात देखने को नहीं मिलेगी। हाथी, घोड़े, रथ पालकी सभी की सज्ज-सज्जा अद्वितीय थी, अनुपम थी। दूल्हे अरिष्टनेमि को श्रीकृष्ण के सर्वश्रेष्ठ मस्त गन्धहस्ती पर बैठाया गया। बड़े ही ठाट के साथ बारात चल पड़ी। राजा समुद्रविजय आदि दस दशार्ह, श्रीकृष्ण, बलराम आदि अनेक यादव कुमार सुसज्जित हाथी, घोड़ों तथा रथों पर सवार थे। बारात अपने गंतव्य की ओर अग्रसर हो रही थी।

राजा उग्रसेन ने अपने यहाँ बारात के स्वागत की पूरी-पूरी तैयारी कर रखी थी। वह तैयारी क्यों न करता, उसकी पुत्री का विवाह जो होने जा रहा था। उसने अतिथियों के स्वागत के लिए विभिन्न प्रकार के पकवान तो बनवा के रख ही रखे थे, उनके साथ ही सैकड़ों पशुओं को भी एकत्र कर एक बाड़े में बांध रखे थे। जब बारात उस बाड़े के निकट पहुँची तब कुमार अरिष्टनेमि के कर्ण-कुहरों में भयाक्रांत मूक पशुओं का करुण-क्रन्दन का स्वर पड़ा। इस करुण स्वर से दयालु कुमार का हृदय द्रवित हो गया। वे इस क्रन्दन का

कारण जानने के लिए समुत्सुक हो गए। उन्होंने अपने साथी से पूछा—"यह करुण स्वर कहाँ से आ रहा है। इसका कारण क्या है?"

साथी ने बताया कि "समीपस्थ एक बाड़े में कुछ पशु-पक्षियों को बांध कर रखा है जिनका उपयोग विवाह के अवसर पर दिये जाने वाले भोज में किया जायेगा यानि उस भोज में इन प्राणियों का मांस परोसा जायेगा।" कुमार ने जैसे ही यह सुना उनका हृदय खिन्न हो गया। करुणा से उनका हृदय भर आया। कुमार अरिष्टनेमि ने अपना हाथी रुकवाया और साथी से कहा कि वह वहाँ जाये जहाँ ये पशु-पक्षी बन्द कर रखे हैं। वहाँ जाकर वह सबको मुक्त कर दे। साथी ने उनकी आज्ञा का पालन किया। कुमार ने अपने वस्त्रालंकार उसे पुरस्कार में दे दिये और वापस द्वारिका की ओर चलने का आदेश दिया। कुमार अरिष्टनेमि को वापस लौटते देख कर सभी चिंतित हो गए। राजा समुद्रविजय श्रीकृष्ण आदि सभी ने उन्हें रोककर मनाने का अथक प्रयत्न किया, किंतु असफलता ही उनके हाथ लगी। कुमार को नहीं रुकना था तो नहीं रुके। वे वापस लौट गए द्वारिका की ओर।

जब कुमार अरिष्टनेमि के द्वारिका लौट जाने का समाचार दुल्हन राजीमती ने सुना तो वह इस आघात को सहन नहीं कर सकी और मूर्च्छित हो गई। जब राजीमती की मूर्च्छा दूर हुई तो उसकी सखियाँ विभिन्न प्रकार से उसे धैर्य बंधाने लगीं। वे कहने लगीं कि "यह तो अच्छा ही हुआ कि विवाह के पूर्व ही कुमार लौट गए और विवाह न हो पाया। यदि विवाह के बाद कुछ होता तो क्या होता? अब चिंता की कोई बात नहीं है। हमारे महाराज तुम्हारे लिए उनसे भी अधिक योग्य वर खोज ही लेंगे।" बेचारी सहेलियाँ क्या जानती थीं कि उनके एक-एक शब्द का असर राजीमती पर क्या हो रहा है। उसे तो उनके शब्द तीक्ष्ण बाणों की तरह चुभ रहे थे। वह तो कुमार अरिष्टनेमि को अपना पति, अपना सर्वस्व मान चुकी थी। अब वह किसी भी स्थिति में किसी भी अन्य पुरुष की कल्पना भी नहीं कर सकती थी। किसी अन्य पुरुष को पति के स्थान पर रखकर कल्पना करना भी वह पाप मानती थी। उसने मन ही मन सांसारिक भोगों से मुंह मोड़ लिया।

दीक्षा एवं केवलज्ञान :

जब तक भोग कर्म समाप्त नहीं होते तब तक विरक्ति कैसी? अरिष्टनेमि के भोग कर्म तो समाप्त हो चुके थे और वे आत्म-कल्याण के लिये दीक्षाव्रत अंगीकार करने की भावना अभिव्यक्त करने लगे थे। तभी लोकांतिक देवों ने उनसे धर्म-प्रवर्तन करने के लिये विनती की। अरिष्टनेमि ने वर्षीदान देना शुरू कर दिया। वर्षीदान सम्पन्न कर रत्नजटित उत्तरकुरु नामक सुसज्जित पालकी

में बैठकर उन्होंने दीक्षार्थ अभिनिष्क्रमण किया। उनकी पालकी को अनेक राजा महाराजाओं ने उठाया था। भगवान् को दसों दशार्ह, मातृवर्ग और कृष्ण, बलराम, आदि सब घेर कर चल रहे थे।

अरिष्टनेमि के महाभिनिष्क्रमण का यह भव्य चल समारोह राजपथ से होता हुआ जब राजीमती के महल के निकट पहुंचा तो उसे राजीमती ने भी देखा। एक वर्ष पुराना शोक प्रियतम को देखकर नया हो गया और राजीमती उसी क्षण मूर्च्छित होकर गिर पड़ी।

भगवान् की पालकी वहाँ से आगे निकल गई। भगवान् उज्जयंत पर्वत के रमणीय सहस्राम्रवन में पहुँचे। पालकी अशोक वृक्ष के नीचे रखी गई। पालकी में से भगवान् उतरे और अपने समस्त आभूषण उतार दिये। इन्द्र ने भगवान् के समस्त आभूषण श्रीकृष्ण को सौंप दिये। श्रावण शुक्ला षष्ठि को पूर्वाह्न में चन्द्र के साथ चित्रा नक्षत्र के योग में बेले की तपस्या से भगवान् ने स्वयं पंचमुष्टि लोच किया और सिद्धों की साक्षी से सम्पूर्ण पाप-कर्मों का त्याग कर दीक्षा ग्रहण कर ली। दीक्षाव्रत अंगीकार करते ही भगवान् को मनःपर्यवज्ञान की उपलब्धि हुई। भगवान् अरिष्टनेमि के साथ एक हजार पुरुषों ने दीक्षाव्रत अंगीकार किया।

दीक्षा के दूसरे दिन भगवान् अरिष्टनेमि विहार कर गोष्ठ पधारे, जहाँ वरदत्त नामक ब्राह्मण के यहाँ उनका परमान्न से पारणा हुआ। देवताओं ने पंच दिव्य की वर्षा कर दान की महिमा प्रकट की। तत्पश्चात् भगवान् ने वहाँ से विहार कर दिया।

दीक्षोपरांत भगवान् अरिष्टनेमि चौपन दिन तक नाना प्रकार के तप करते हुए विचरण करते रहे और फिर भगवान् अपने दीक्षा-स्थल पर पधारे। यहाँ वे अष्टम-तप से ध्यानस्थ हो गये। शुक्लध्यान से समस्त घाति-कर्मों की निर्जरा का आश्विन कृष्णा अमावस्या को चित्रा नक्षत्र के योग में भगवान् को केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त हो गया। वे सर्वज्ञ बन गए।

देवताओं ने भव्य समवसरण की रचना की। उसकी कांति से समूचा क्षेत्र जगमगा उठा। श्रीकृष्ण, दसों दशार्ह, माताएं आदि समस्त यादवों को भी यह सूचना मिली। श्री कृष्ण ने सूचना लाने वाले को साढ़े बारह करोड़ मुद्राओं से पुरस्कृत किया। उन्होंने भगवान् के प्रति अपनी अपूर्व श्रद्धा और निष्ठा का परिचय दिया। सभी यादववंशी दशार्ह माताएं श्री कृष्ण बलभद्र आदि सभी सोलह हजार राजाओं के साथ भगवान् के समवसरण में सम्मिलित हुए।

भगवान् अरिष्टनेमि ने सबके समझ में आजाने वाली सामान्य भाषा में अपनी प्रथम धर्म-देशना दी। वैराग्य भाव से ओतप्रोत भगवान् की धर्म-देशना

सुनकर अनेक व्यक्तियों के हृदय वैराग्य रंग में रंग गए। सर्वप्रथम भगवान् के श्री चरणों में राजा वरदत्त ने दीक्षाव्रत अंगीकार किया। उसके बाद दो हजार रानियों ने दीक्षा ग्रहण की। और भी अनेक व्यक्तियों ने तथा अनेक राजकुमारियों ने भी दीक्षा ग्रहण की। दीक्षाव्रत अंगीकार करने वाली राजकुमारियों में यक्षिणी आर्या को साध्वी संघ की प्रवर्तिनी बनाया गया। श्री कृष्ण आदि सहित यादववंशियों ने श्रावक धर्म स्वीकार किया। और, भी अनेक व्यक्तियों ने श्रावक धर्म स्वीकार किया। इस प्रकार भगवान् ने चतुर्विध संघ तीर्थ की स्थापना की और भाव तीर्थंकर कहलाये।

राजीमती द्वारा दीक्षा-ग्रहण :

भगवान् अरिष्टनेमि के तोरण से लौट जाने के बाद से ही राजीमती अपने तन-मन की सुध भूल कर दिन रात अरिष्टनेमि की स्मृति में डूबी रहती थी। इस बीच अरिष्टनेमि का छोटा भाई रथनेमि राजीमती को देखकर उसके प्रति आसक्त हो गया था। उसने राजीमती के समक्ष विवाह प्रस्ताव भी रखा था किंतु वह अपने प्रयास में सफल नहीं हो सका। राजीमती तो अरिष्टनेमि के प्रति अपने आपको समर्पित कर चुकी थी। ऐसी स्थिति में वह अन्य पुरुष की कल्पना कर ही नहीं सकती थी। कालांतर में रथनेमि विरक्त हुए और दीक्षा ग्रहण कर भगवान् की सेवा में पहुँचने के लिए चल पड़े।

राजीमती ने जब सुना कि भगवान् अरिष्टनेमि ने प्रव्रज्या अंगीकार कर ली है तो उसने अपने आपको धिक्कारा। उसने अपने माता-पिता से अनुमति प्राप्त कर दीक्षा ग्रहण करली। इतना ही नहीं, उसने अनेक राजकुमारियों और अपनी अनेक सखियों को भी दीक्षा प्रदान कर भगवान् के प्रति धर्मानुरागी बनाया। राजीमती बहुश्रुता भी हो गई थी।

जब राजीमती को भगवान् अरिष्टनेमि के केवलज्ञानी हो जाने की सूचना मिली तो वह अनेक साध्वियों के साथ भगवान् के दर्शन-वंदन के लिए रेवतगिरि की ओर रवाना हो गई। मार्ग में अचानक घटायें घिर आई और वर्षा होने लगी। साध्वियाँ वर्षा से बचने के लिये इधर-उधर गुफाओं आदि में चली गई। राजीमती भी एक गुफा में गई। जिस गुफा में राजीमती गई उसमें रथनेमि पहले से ही बैठे हुए थे। इस तथ्य से राजीमती अनभिज्ञ थी। राजीमती ने एकान्त समझ कर अपने भीगे कपड़े उतार कर सुखाने के लिए फैला दिये।

रथनेमि ने राजीमती को नग्नावस्था में देखा तो वह विचलित हो गया। उसका पूर्व आसक्ति भाव जाग्रत हो गया। वह एकाएक राजीमती के समक्ष उपस्थित होकर प्रणय याचना करने लगा। इस अप्रत्याशित घटना से राजीमती घबरा कर कांपने लगी। फिर भी उसने अपने आपको सम्हाला और निर्भय

होकर रथनेमि को फटकार लगाते हुए प्रतिबोध दिया। राजीमती की हितभरी ललकार से रथनेमि का चित्त स्थिर हुआ। उन्होंने अपने इस कृत्य के लिए भगवान् के चरणों में पहुंचकर आत्मशुद्धि के लिए आलोचना/प्रतिक्रमण किया और कालांतर में कर्मों का क्षय कर सिद्ध-बुद्ध मुक्त हुए। राजीमती भी भगवान् के चरणों में पहुंची। दर्शन-वंदन किये। कालांतर में उसने भी अपने तप-संयम से केवलज्ञान का उपार्जन किया और अंत में देह-त्याग कर मोक्ष पद प्राप्त किया।

भविष्यवाणी :

भगवान् अरिष्टनेमि दीर्घकाल तक विचरण कर जन-हितकारी उपदेश देते रहे। उनका विचरण क्षेत्र प्रायः सौराष्ट्र ही रहा। भगवान् मद्य-पान और मांस-सेवन के प्रति लोगों को सचेत करते रहे। वे यह भी स्पष्ट कथन करते रहे कि मद्य और मांस विनाश का कारण है। इनसे सदैव बचकर रहना चाहिए।

ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए एक बार भगवान् का पदार्पण द्वारिका में हुआ। भगवान् का आगमन जानकर श्रीकृष्ण उनकी सेवा में पहुँचे। इस अवसर पर श्रीकृष्ण ने भगवान् के समक्ष अपनी जिज्ञासा प्रकट करते हुए प्रश्न किया कि यह स्वर्गोपम द्वारिका नगरी ऐसी ही बनी रहेगी अथवा इसका विनाश होगा?

भगवान् ने उनकी जिज्ञासा का समाधान प्रस्तुत करते हुए फरमाया कि द्वारिका के विनाश के तीन कारण हैं—मद्य, मांस और ऋषि। फिर भगवान् ने इसके बचने का उपाय बताते हुए फरमाया कि यदि सभी द्वारिकावासी मद्य-मांस का सेवन बन्द कर दें और तपाराधना शुरू कर दें तो इसके विनाश को कुछ समय के लिए टाला जा सकता है। श्रीकृष्ण को बात समझ में आ गई। उन्होंने उस समय द्वारिका में जितना भी मद्य था, वह सारा वन में फिकवा दिया और मांस-मद्य को एक प्रकार से प्रतिबंधित कर दिया। भगवान् ने यह भी बता दिया था कि कुछ यादवकुमार मद्य में उन्मुक्त होकर द्वैपायन ऋषि का अपमान करेंगे। इससे क्रुद्ध होकर वे द्वारिका को भस्मीभूत करने की प्रतिज्ञा करेंगे। मृत्यु के उपरांत वे अग्निदेव बनकर अपनी प्रतिज्ञा पूरी करेंगे। मद्य-मांस के सर्वथा त्याग से द्वारिका की सुरक्षा सम्भव है किंतु ऐसा होगा नहीं। हाँ, कुछ समय के लिए इस विनाश को रोका जा सकता है।

सामान्यतः ऐसा होता है कि जब किसी अनिष्ट की आशंका होती है तो लोग घबरा जाते हैं। जब उस अनिष्ट से बचने का कोई उपाय बताया जाता है तो वे कठोरता से उसका पालन शुरू कर देते हैं, किंतु समय के प्रवाह के साथ यह कठोरता शिथिल होती जाती है। कुछ ऐसा ही द्वारिका के प्रकरण

में भी हुआ। जनता भगवान् की चेतावनी को भूलती जा रही थी। इसे भी संयोग ही कहा जायेगा कि ऐसे समय में कुछ यादवकुमार कदम्ब वन की ओर भ्रमणार्थ चले गए। द्वारिका को जो मदिरा वन क्षेत्र में फिंकवाई गई थी, वह क्षेत्र यही था। पाषाण खण्डों के मध्य फेंकी गई मदिरा सुरक्षित रह गई। जब इन यादवकुमारों ने वहाँ मदिरा देखी तो वे आनन्दित हो गए। उन्होंने जी भर कर मदिरापान किया। मदिरा ने अपना प्रभाव दिखाया, वे मदोन्मत्त हो गये। इसी स्थिति में उन्हें द्वैपायन ऋषि की स्मृति भी हो आई।

उन्हें यह भी स्मरण हो आया कि ये ऋषि ही द्वारिका के विनाश के कारण बनने वाले हैं। इस पर उन कुमारों ने निश्चित किया कि विनाश के कारण ऋषि को मौत के घाट उतार दिया जाये ताकि द्वारिका सुरक्षित रह सके।

मदोन्मत यादव कुमार द्वैपायन ऋषि के पास पहुंचे और मदान्ध युवकों ने उन पर प्रहार करना शुरू कर दिया। उन पर लातों, घूंसों और पत्थरों की वर्षा करने लगे। वे ऋषि को अधमरा कर अपनी द्वारिका लौट आये। कालांतर में मरकर द्वैपायन ऋषि अग्निदेव बने। उधर यादवकुमारों की करतूत की सूचना श्रीकृष्ण को मिल गई थी। उन्होंने द्वैपायन ऋषि से क्षमायाचना भी की थी किंतु परिणाम शून्य ही रहा था।

तब श्रीकृष्ण ने द्वारिकावासियों से अधिक से अधक समय व्रत, उपवास, स्वाध्याय, ध्यान आदि धार्मिक कृत्यों को करते हुए व्यतीत करने का निर्देश दिया। इस कारण अग्निदेव बने द्वैपायन ऋषि कोई अनिष्ट नहीं कर पा रहे थे। शनैः शनैः इस धर्माराधना में भी शिथिलता आ गई और अवसर मिलते ही अग्निदेव ने तब अग्नि वर्षा करके द्वारिका को भस्म कर दिया। भगवान् अरिष्टनेमि की भविष्यवाणी सत्य हुई कि मदिरा द्वारिका के विनाश का कारण बनेगी।

परिनिर्वाण :

अपना अंतिम समय निकट जानकर भगवान् अरिष्टनेमि पांच सौ छत्तीस साधुओं के साथ उज्जयंतगिरि पर पधारे और एक मास के अनशन के साथ आषाढ शुक्ला अष्टमी को चित्रा नक्षत्र के योग में मध्यरात्रि के समय चारों अघाति कर्मों (आयु, नाम, गोत्र और वेदनीय) की निर्जरा कर निषद्या आसन से सिद्ध-बुद्ध और मुक्त हुए। उन्होंने निर्वाण पद प्राप्त कर लिया। भगवान् का कुल आयुष्य एक हजार वर्ष का था। वे तीन सौ वर्ष कुमारावस्था में रहे। चौपन दिनों तक छद्मस्थावस्था में रहे और कुछ कम सात सौ वर्ष केवली रूप में विचरण करते हुए जन हितकारी उपदेश फरमाते रहे।

भगवान् अरिष्टनेमि को ऐतिहासिक काल का तीर्थंकर माना जाता है। इस सम्बन्ध में अनेक ऐतिहासिक प्रमाण भी उपलब्ध होते हैं।

धर्म-परिवार :

भगवान् अरिष्टनेमि के धर्म-परिवार का विवरण इस प्रकार है—

गणधर	१८
केवली	१,५००
मनःपर्यवज्ञानी	१,०००
अवधिज्ञानी	१,५००
चौदह पूर्वधारी	४००
वैक्रियलब्धिधारी	१,५००
वादी	८००
साधु	१८,०००
साध्वी	४०,०००
श्रावक	१,६९,०००
श्राविका	३,३६,०००
अनुत्तर गतिवाले	१६००

१५०० श्रमण और तीन हजार श्रमणियाँ। इस प्रकार कुल ४,५०० अन्तेवासी सिद्ध-बुद्ध और मुक्त हुए।

□□□

नाग

२३ भगवान् पार्श्वनाथ

भगवान् अरिष्टनेमि के पश्चात् ऐतिहासिक काल में तेईसवें तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ हुए। भगवान् पार्श्वनाथ अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर स्वामी से दो सौ पचास वर्ष पूर्व हुए थे।चिह्न :

उस समय दो विचारधाराएँ चल रही थीं। एक उन विचारकों की थी जो एकान्त, शान्त वन प्रदेशों में रहते हुए ब्रह्म, जगत् और आत्मा आदि अतीन्द्रिय विषयों पर चिंतन करते। वे प्रायः मौन ही रहते थे, इस कारण ये मुनि कहलाये। वेदों में वातरशना तत्त्वचिंतकों को मुनि कहा गया है। इनका जीवन-सिद्धांत तपस्या, दान, आर्जव, अहिंसा और सत्य था। इसे ज्ञान यज्ञ भी कहा जा सकता है।

दूसरी विचारधारा के अनुसार यज्ञ के नाम पर मूक पशुओं की बलि चढ़ाकर देवताओं को प्रसन्न करने के आयोजन होते थे। इस प्रकार सामान्य जनता दिक्भ्रमित थी। वह समझ नहीं पा रही थी कि उसे कौन से मार्ग का अनुसरण करना चाहिए। ऐसे ही समय में भगवान् पार्श्वनाथ हुए और उन्होंने दिक्भ्रमित जनता का मार्गदर्शन कर उनका धर्म-मार्ग प्रशस्त किया।

पूर्व भव :

भगवान् पार्श्वनाथ के जीव ने भी अपने पूर्व-भवों में कठोर साधना करके तीर्थंकर गोत्र कर्म का उपार्जन किया था। भगवान् के दस भवों की जानकारी उपलब्ध है। यथा—

(१) मरु भूमि और कमठ का भव, (२) हाथी का भव, (३) सहस्रार देवलोक का भव, (४) किरणदेव विद्याधर का भव, (५) अच्युत देवलोक का भव, (६) वज्रनाभ का भव, (७) ग्रैवेयक देवलोक का भव, (८) स्वर्णबाहु का भव, (९) प्राणत देवलोक का भव और (१०) पार्श्वनाथ का भव।

स्वर्णबाहु के भव में बीस स्थानकों की विशेष साधना कर तीर्थंकर गोत्र का उपार्जन किया। स्वर्णबाहु के भव का विवरण संक्षेप में इस प्रकार बताया जा सकता है।

देवलोक की आयुष्य पूर्ण होने पर वज्रनाभ के जीव ने वहाँ से च्यवन किया और पूर्व-विदेह महाराज कुलिशबाहु की धर्मपत्नी रानी सुदर्शना की कुक्षि

मे उत्पन्न हुआ। उसी रात रानी सुदर्शना ने चौदह महामंगलकारी स्वप्न देखे। इससे सभी प्रफुल्लित हुए। उन्हे विश्वास हो गया कि राजमहल में चक्रवर्ती सम्राट का जन्म होने वाला है। गर्भकाल पूर्ण होने पर रानी सुदर्शना ने पुत्ररत्न को जन्म दिया, जिसका नाम सुवर्णबाहु रखा गया। युवा होने पर पिता राजा कुलिशबाहु की आज्ञा से सुवर्णबाहु राजकाज भी करने लगे। कहा जाता है कि पिता राजा कुलिशबाहु ने अपने पुत्र का विवाह योग्य राजकन्याओं से भी कर दिया था। कालांतर में उन्हें राजपद भी सौंप दिया।

एक बार किसी समय सुवर्णबाहु अश्व पर सवार होकर प्रकृति का निरीक्षण करने के लिए निकल पड़े। उनके साथ कुछ सैनिक भी थे। वन में उनका अश्व अनियन्त्रित होकर भाग निकला और वह उन्हें गहन वन में ले गया। उनका अश्व उस वन के सरोवर के निकट जाकर रुक गया। सुवर्णबाहु अपने अश्व से नीचे उतरे। उन्होंने अश्व को एक स्थान पर बाँधा और प्रकृति का निरीक्षण करने लगे। यहाँ का प्राकृतिक दृश्य मनमोहक था। प्रकृति के आकर्षण से भ्रमण करते हुए सुवर्णबाहु एक आश्रम के निकट जा पहुँचे। इस आश्रम में कुछ तापस रहते थे। आश्रम के समीप ही एक उद्यान भी था जिसमें विभिन्न प्रकार के रंग-बिरंगे पुष्प खिले हुए थे और अपनी सौरभ से वातावरण को सुरभित कर रहे थे। उस समय उस उद्यान में कुछ युवतियाँ क्रीड़ारत थीं। उन युवा कन्याओं में एक कन्या उन सबसे अलग विशेष रूपवती थी। उसका रूप लावण्य दर्शक को बरबस अपनी ओर आकर्षित कर लेता था। सुवर्णबाहु की दृष्टि जैसे ही उस कन्या पर पड़ी, वैसे ही वह उसके प्रति आसक्त हो गए और अपलक दृष्टि से उसके सौन्दर्य का पान करने लगे। उसी समय उन्होंने देखा कि कन्या के सिर पर भ्रमर मंडरा रहे हैं। वह उन्हें भगाने का प्रयास कर रही है किन्तु असफलता ही उसके हाथ लग रही है। भ्रमरों के मंडराने का कारण उस युवती के भाल पर लगा चन्दनादि का सुवासित लेप था। भ्रमरों के मंडराने से वह युवती घबरा कर चिल्ला पड़ी। इसी समय सुवर्णबाहु ने अपनी चादर से भ्रमरों को हटा दिया और उस युवती को निर्भय कर दिया।

यह युवती राजा खेचरेन्द्र की सुपुत्री राजकुमारी पद्मा थी और अपने पिता के स्वर्गवास के पश्चात् अपनी माता प्रलावली के साथ आश्रम में रह रही थी। यह आश्रम आचार्य गालव का था। सुवर्णबाहु और पद्मा का विवाह हो गया और सुवर्णबाहु उसे लेकर अपने राजमहल में आ गए।

राजा सुवर्णबाहु राजकीय सुखोपभोग कर रहे थे कि एक समय उनके शस्त्रागार में चक्ररत्न उत्पन्न हुआ। चक्ररत्न के प्रभाव से सुवर्णबाहु चक्रवर्ती सम्राट बने।

एक बार तीर्थंकर जगन्नाथ के समवसरण में उनकी धर्म देशना सुनी तो चक्रवर्ती सम्राट सुवर्णबाहु को जाति-स्मरण हो आया। परिणामस्वरूप उन्होंने अपने पुत्र को राज्य सौंप कर दीक्षाव्रत अंगीकार कर लिया। दीक्षोपरांत कठोर साधना करते हुए अर्हद् भक्ति आदि बीस स्थानकों की सम्यक् साधना/ आराधना कर तीर्थंकर गोत्र का उपार्जन किया।

अपना अन्तिम समय जानकर मुनि सुवर्णबाहु संलेखनापूर्वक अनशन कर ध्यानस्थ हो गए। इसी अवस्था में उनके पूर्व-भव का कुरंग भील जो अब सिंह के रूप में था, उन्हें देखकर उन पर झपट पड़ा और उनके शरीर को चीर दिया। मुनि सुवर्णबाहु सर्वथा शान्त एवं अचल बने रहे। समताभाव के साथ आयुष्य पूर्ण करने के कारण वे महाप्रभ नाम के विमान में बीस सागर की स्थिति वाले देव बने।

वह सिंह भी मर कर नरक में उत्पन्न हुआ। वहाँ का आयुष्य पूर्ण कर कमठ का जीव दीर्घकाल तक तिर्यंच योनि में विविध कष्ट सहन करता रहा।

जन्म और वंश :

परम पवित्र सलिला गंगा के तट पर बसी ऐतिहासिक नगरी वाराणसी। उस समय वाराणसी के राजा अश्वसेन थे। उनकी महारानी वामा देवी थी। वे इक्ष्वाकु वंश के शिरोमणि थे और काश्यप गोत्रीय थे। चैत्र कृष्णा चतुर्थी का दिन था, विशाखा नक्षत्र था। उस योग में अपनी देवलोक की आयु पूर्ण कर सुवर्णबाहु के जीव ने देवलोक से च्यवन किया और महारानी वामा देवी की कुक्षि में गर्भ रूप में उत्पन्न हुआ। उसी रात्रि में महारानी वामा देवी ने महामंगलकारी चौदह स्वप्न देखे। स्वप्नों के प्रभाव से महारानी का रोम-रोम प्रफुल्लित हो गया। स्वप्नशास्त्रियों से स्वप्नों का फल जानकर सम्पूर्ण राज्य में हर्ष की लहर उत्पन्न हो गई। महारानी वामा देवी सावधानीपूर्वक गर्भ का पालन करने लगी। गर्भकाल पूर्ण होने पर पौष कृष्णा दशमी को माता ने सुखपूर्वक पुत्ररत्न को जन्म दिया। इस समय अनुराधा नक्षत्र था। पुत्र की कांति नीलमणि के समान थी। पुत्ररत्न के जन्म के साथ ही सभी लोकों में आलोक व्याप्त हो गया। यह तीर्थंकर के जन्म का संकेत माना जाता है। पुत्र-जन्म का समाचार विद्युत-गति से सम्पूर्ण राज्य मे प्रसरित हो गया। जनता राजकुमार के जन्म की खबर पाकर हर्षोल्लास में झूम उठी। देव-देवेन्द्रों ने प्रभु का जन्मोत्सव मनाया। राजा अश्वसेन ने भी धूमधाम से अपने पुत्र का जन्मोत्सव मनाया। दस दिन तक समारोहपूर्वक जन्मोत्सव पूरे राज्य में मनता रहा।

नामकरण :

नामकरण वाले दिन राजा अश्वसेन ने परिजनों एवं मित्र वर्ग को आमन्त्रित किया। उन्होंने सबके समक्ष बताया कि जब बालक अपनी माता के गर्भ में था, तब इसकी माता ने अंधेरी रात्रि में पास (पार्श्व) में चलते हुए सर्प को देखकर मुझे बताया था और प्राण-रक्षा की थी। अतः मेरे विचार से बालक का नाम पार्श्वकुमार रखा जाना उचित लगता है। वहाँ उपस्थित सभी ने राजा के प्रस्ताव का समर्थन करते हुए अपनी सहमति व्यक्त की। इस प्रकार बालक का नाम पार्श्वकुमार रखा गया।

गृहस्थ-जीवन एवं राज्य :

पार्श्वकुमार एक हजार आठ लक्षणों से विभूषित थे। बाल सुलभ क्रीड़ा करते देखकर माता-पिता अति आनन्द का अनुभव करते थे। राजकुमारों और देवकुमारों के मध्य वे उडुगण में चन्द्रमा की भाँति चमकते थे। उनकी बुद्धिमत्ता और प्रतिभा से माता-पिता पूर्ण सन्तुष्ट थे। जैसे-जैसे वे बड़े होते गए, उनकी तेजस्विता का प्रकाश और चमकने लगा। उनके साहस और पराक्रम की प्रतीक एक घटना यहाँ प्रस्तुत है।

एक बार किसी समय महाराज अश्वसेन की राजसभा में कुशस्थल का दूत आया। सामान्य औपचारिकता के निर्वहन के पश्चात् दूत ने बताया कि कुशस्थल के राजा नरवर्मा ने जैन भागवती दीक्षा अंगीकार कर ली है। इस समय उनके पुत्र प्रसेनजित कुशस्थल के राजा हैं। उनकी पुत्री प्रभावती रूप-लावण्य की खान है। वह मन ही मन आपके सुपुत्र पार्श्वकुमार को अपना पति स्वीकार कर चुकी है। उसकी प्रतिज्ञा है कि वह पार्श्वकुमार के अतिरिक्त अन्य किसी को भी पति रूप में स्वीकार नहीं करेगी। प्रभावती के माता-पिता उसकी इस पसंद से प्रसन्न थे। इसी बीच जब कलिंग के यवन राजा ने यह सब सुना तो उसने कुशस्थल पर आक्रमण कर उसे घेर लिया है। यवन राजा ने यह घोषणा भी कर दी कि उसके होते हुए प्रभावती के साथ विवाह करने वाला पार्श्व कौन होता है? अब उसका यह कहना है कि या तो युद्ध करो या प्रभावती को सौंप दो। हमारे महाराज प्रसेनजित असमंजस की स्थिति में हैं। इस समय क्या करना है, वे क्या नहीं करना है, स्थिति को अवगत कराने और अगली कार्रवाई क्या करना है? इसके लिये ही उन्होंने मुझे आपकी सेवा में भेजा है।

महाराज अश्वसेन ने दूत को आश्वस्त करते हुए कहा कि वह किसी प्रकार की चिन्ता न करे। उनके होते हुए यवन राजा कुशस्थल का बाल भी बांका नहीं कर सकता है। अपने इस कथन के साथ ही उन्होंने रणभेरी बजवा

दी। जब रणभेरी की ध्वनि पार्श्वकुमार ने सुनी तो वे अपने पिता श्री के पास आए और इस विषयक जानकारी चाही। पिताश्री ने उन्हें बता दिया कि इस समय वे कुशस्थल की रक्षा के लिए जा रहे हैं। कुशस्थल को कलिंग के यवन राजा ने घेर रखा है।

पार्श्वकुमार ने अपने पिताश्री से आग्रह किया कि उनके होते हुए आपको युद्ध के लिए जाने की आवश्यकता नहीं है। पार्श्वकुमार के अत्याग्रह को देखकर महाराज अश्वसेन ने उन्हें कुशस्थल की रक्षा के लिए जाने की अनुमति प्रदान कर दी। पार्श्वकुमार अपनी चतुरंगिणी सेना के साथ कुशस्थल की ओर रवाना हुए। वे कुछ ही दिनों में पहुँच गए और वहाँ पहुँचते ही युद्ध की घोषणा भी कर दी। साथ ही उन्होंने कलिंग के यवनराज के पास अपना दूत भेजकर कहलवाया कि 'राजा प्रसेनजित ने महाराज अश्वसेन की शरण ग्रहण कर ली है। अब उसका हित इसी में है कि वह कुशस्थल से अपना घेरा उठा ले।' यवनराज ने दूत की बात पर कोई ध्यान नहीं दिया और कह दिया कि 'तुम्हारे पार्श्वकुमार को कह दो कि वह हमारे बीच में न आवे। ऐसा न हो कि कहीं बीच में पड़ने पर तुम्हारे कुमार को अपने प्राणों से हाथ धोना पड़े।' दूत ने यवनराज की बात पार्श्वकुमार को कही। पार्श्वकुमार तो दया के सागर थे। वे अनावश्यक हिंसा नहीं चाहते थे। उन्होंने अपने दूत को पुनः यवनराज को समझाने के लिए भेजा।

दूत ने यवनराज को पुनः समझाते हुए पार्श्वकुमार की आज्ञानुसार कार्य करने का परामर्श दिया। इस बात पर यवनराज के सैनिक भड़क उठे। इस स्थिति में वृद्ध मंत्री ने सैनिकों को समझाते हुए कहा कि तुम लोग पार्श्वकुमार की महिमा को नहीं जानते हो। वे देव-दानव और मानव द्वारा पूजनीय और परम पराक्रमी हैं। उनकी शक्ति के सम्मुख इन्द्र भी नतमस्तक है। मेरे विचार से सबका हित इसी में है कि हम उनकी शरण स्वीकार कर लें।

मन्त्री की बात का प्रभाव हुआ। यवनराज भी प्रभावित हुआ। वह वास्तविकता जान गया। वह पार्श्वकुमार की सेवा में पहुँचा। अपने किए की क्षमा माँगी। पार्श्वकुमार ने उसे अभयदान दे दिया। इसी समय राजा प्रसेनजित भी प्रभावती को लेकर पार्श्वकुमार की सेवा में उपस्थित हुआ और निवेदन किया—"महाराज! आपने कुशस्थल को संकटमुक्त कर, हम पर अनुग्रह किया है। अब आप प्रभावती को स्वीकार कर हम पर एक और कृपा करने का कष्ट करें।"

"राजन्! मैं तो अपने पिताश्री की आज्ञा से आपके नगर को संकट से मुक्त कराने आया था, आपकी कन्या से विवाह करने नहीं। इस सम्बन्ध में आप और आग्रह न करें तो ही उचित रहेगा।" पार्श्वकुमार ने कहा और फिर अपनी सेना को वाराणसी की ओर प्रस्थान करने का आदेश दे दिया। राजा प्रसेनजित भी पार्श्वकुमार के साथ ही अपनी पुत्री को लेकर वाराणसी पहुँचा और महाराज अश्वसेन की सेवा में उपस्थित होकर साग्रह निवेदन किया—"महाराज! आपकी कृपा से हम सुरक्षित हैं। अब मेरी विनम्र विनती है कि मेरी पुत्री प्रभावती को अपने कुमार पार्श्वकुमार के लिए स्वीकार करने की कृपा करें।"

"राजन्! कुमार तो संसार से विरक्त है। कहा नहीं जा सकता कि वह कब क्या करे। फिर भी मैं आपके आग्रह को देखते हुए दोनों को विवाह बंधन में बाँधने का प्रयास करूंगा।" महाराज अश्वसेन ने कहा।

महाराज अश्वसेन ने अपने पुत्र पार्श्वकुमार को प्रभावती से विवाह करने के लिए कहा। पार्श्वकुमार ने पहले तो इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया, किन्तु पिताश्री का आग्रह देखते हुए उन्होंने प्रभावती से विवाह करना स्वीकार कर लिया। इस स्वीकृति के साथ ही दोनों का विवाह हो गया। विवाह बंधन में बंधने के पश्चात् भी वे निर्लिप्त ही बने रहे। कर्त्तव्य का निर्वहन करने के लिए सांसारिक सुखोपभोग किया।

नाग का उद्धार :

एक बार पार्श्वकुमार अपने महल के झरोखे में बैठे हुए थे। वहीं से उन्होंने देखा कि अपार जनसमूह एक ही दिशा में चला जा रहा है। उन्होंने इस सम्बन्ध में अपने अनुचर से पूछा तो ज्ञात हुआ कि नगर के उपवन में एक घोर तपस्वी कमठ आए हुए हैं। वे सदैव पंचाग्नि तप तपते हैं। जनता उनकी ही सेवा-पूजा के लिए जा रही है। पार्श्वकुमार भी कुतूहलवश वहाँ जा पहुँचे। काफी ऊँची-ऊँची अग्नि की ज्वालाएँ उठ रही थीं। उसमें बड़े-बड़े लक्कड़ जल रहे थे। तापस के चारों ओर लक्कड़ जल रहे थे और ऊपर सूर्य तप रहा था। पार्श्वकुमार ने इस दृश्य को देखा। उन्होंने अपने अवधि-ज्ञान से इन जलते हुए लक्कड़ों में एक नाग दम्पत्ति को देखा। उन्होंने तापस को ललकारते हुए कहा—"धर्म तो अहिंसा में है। अहिंसारहित धर्म, धर्म नहीं हो सकता। इस समय तुम जो तप ताप रहे हो, उसमें नाग-नागिन जल रहे हैं।" तापस ने पार्श्वकुमार की बात का प्रतिवाद किया और कहा कि 'वे राजकुमार हैं। वे धर्म की बात को न तो समझ सकते हैं और न ही जानते हैं। अच्छा

हो कि वे यहाँ से अपने महल में चले जावें।' इस पर पार्श्वकुमार ने अपने अनुचरों से कहकर जलता हुआ लक्कड़ निकलवाकर चिरवाया। उसमें से जलते हुए नाग-दम्पति तड़फड़ाते हुए बाहर निकल आए। पार्श्वकुमार ने नाग-दम्पति को महामन्त्र नवकार सुनाया। कुमार ने जनता को परामर्श दिया कि वह तापस पर क्रोध न करे। नाग-दम्पति का प्राणांत हो गया और मर कर वे देवों के इन्द्र इन्द्राणी धरणेन्द्र व पद्मावती के नाम से उत्पन्न हुए। इस घटना से तापस का प्रभाव क्षीण हो गया। इस कारण वह पार्श्वकुमार के प्रति ईर्ष्यालु हो गया किन्तु वह उनका कुछ भी अनिष्ट नहीं कर सका। अज्ञान-तप से अपनी आयु पूर्ण कर वह असुर-कुमारों में मेघमाली नामक देव हुआ।

दीक्षा :

पार्श्वकुमार गृहस्थावस्था में अवश्य रहे किन्तु उसमें लिप्त नहीं रहे। समय के साथ-साथ उनका मन वैराग्य की ओर प्रवृत्त होता गया। तीस वर्ष की आयु में उन्होंने संसार को त्याग देने का अपना संकल्प व्यक्त कर दिया। इस समय वे जान गए थे कि अब उनके भोगावली कर्म समाप्त होने वाले हैं। भोग-कर्मों की समाप्ति के साथ ही लोकांतिक देवों ने उनसे धर्म-प्रवर्तन के लिए विनती की। उन्होंने वर्षीदान देना शुरू किया। वर्षीदान की समाप्ति पर पौष कृष्णा दसमी को देवों, असुरों और मानवों के साथ दीक्षार्थ अभिनिष्क्रमण किया और आश्रम पद उद्यान में पधारकर अशोक वृक्ष के नीचे विशाला शिविका से उतरे। उन्होंने अपने आभूषणादि उतारे, पञ्चमुष्टि लोच किया और अष्टम तप (तीन दिन का निर्जल उपवास) से विशाला नक्षत्र में तीन सौ अन्य पुरुषों के साथ समस्त पाप-कर्मों को त्याग कर दीक्षा व्रत अंगीकार कर लिया। उसी समय उन्हें मनःपर्यवज्ञान उपलब्ध हो गया।

दीक्षा के दूसरे दिन आश्रम पद उद्यान से विहार कर भगवान् पार्श्वनाथ कोपकटक सन्निवेश में पधारे। जहाँ धन्य नामक गृहस्थ के यहाँ भगवान् का परमान्न से पारणा हुआ। देवों ने पंचदिव्यों की वर्षा कर दान की महिमा प्रकट की।

अभिग्रह :

दीक्षोपरांत भगवान् ने अभिग्रह धारण किया। "मेरी छद्मस्थावस्था का साधना-काल तिरासी दिन का संभावित है। इस अवधि में मैं अपने शरीर से पूर्ण रूप से ममत्व रहित होकर समाधिस्थ रहूँगा। इस अवधि में देव-मानव और पशु-पक्षियों द्वारा जो भी उपसर्ग किये जावेंगे, उन्हें मैं अविचल भाव से सहन करता रहूँगा।"

उपसर्ग :

वाराणसी से विहार कर भगवान् अपने अभिग्रह के अनुसार विचरण करते हुए शिवपुरी नगर पधारे और यहाँ के कौशाम्ब वन में ध्यान मग्न हो गए। अपने पूर्वभव को स्मरण कर धरणेन्द्र वहाँ आया और भगवान् की धूप से रक्षा करने के लिए उसने भगवान् के सिर पर अपने फण का छत्र बना दिया। कहा जाता है कि उसी समय उस स्थान का नाम अहिच्छत्र के नाम से विख्यात हुआ।

यहाँ से विहार कर भगवान् एक तापस के आश्रम के निकट पहुँचे। चूँकि सायंकाल हो गया था, इस कारण भगवान् एक वट वृक्ष के नीचे कायोत्सर्ग में ध्यानस्थ हो गए।

कमठ का जीव जो मेघमाली बना था, उसे एकाएक अपने ज्ञान से विदित हुआ कि भगवान् ध्यानस्थ खड़े हैं। उसे अपने पूर्व-जन्म का वैर स्मरण हो आया। वह भगवान् पर अत्यधिक क्रुद्ध हुआ। वह सिंह, हाथी, चीता, आशुविषवाला बिच्छु, साँप आदि नानाविध रूप धारण कर भगवान् को कष्ट देने लगा। उसने बीभत्स बैताल का स्वरूप धारण करके भी भगवान् को भयभीत करने की असफल चेष्टा की। इन सब उपसर्गों में भगवान् सुमेरु की भाँति अचल/अडोल रहे। वे सब कुछ निर्मम भाव से सहन करते रहे।

जब मेघमाली ने देखा कि उसके सभी प्रयास विफल हो रहे हैं तो वह और अधिक क्रोधित हो गया और उसने वैक्रिय लब्धि की शक्ति से मूसलाधार वर्षा शुरू कर दी। गर्जना होने लगी, विद्युत चमकने लगी, पानी के साथ ओले भी बरसने लगे। वर्षा का प्रवाह इतना तीव्र था कि वन्य प्राणी भयभीत होने लगे। कुछ ही क्षणों में सारा प्रदेश जल मग्न हो गया। जहाँ भगवान् खड़े थे, वहाँ भी चारों ओर पानी ही पानी था। जल-स्तर निरन्तर बढ़ने लगा। पहले घुटने तक, फिर कमर तक और इसी प्रकार बढ़ता हुए भगवान् की नासिका के निकट तक पानी बढ़ गया। इतना हो जाने पर भी भगवान् ध्यानस्थ ही बने रहे। उनका ध्यान भंग नहीं हुआ। जिस समय भगवान् का शरीर पानी में डूबने ही वाला था, उसी समय धरणेन्द्र का आसन चलायमान हुआ। धरणेन्द्र ने अवधिज्ञान से देख लिया कि भगवान् इस समय घोर संकट से घिरे हुए हैं। उसे बड़ा क्षोभ हुआ। वह पद्मावती आदि देवियों को साथ लेकर तीव्र वेग से भगवान् की सेवा में उपस्थित हुआ और भगवान् को वन्दन करने के पश्चात् तत्काल उनके चरणों के नीचे दीर्घनाल युक्त एक कमल की रचना की और सप्त फणों के छत्र से भगवान् को अच्छी प्रकार आच्छादित कर दिया।

भगवान् पार्श्वनाथ तो वीतराग स्थिति में थे। उन्हें न तो मेघमाली के उपसर्ग के प्रति कोई क्रोध था और न ही धरणेन्द्र के प्रति किसी प्रकार का अनुराग था। वे समदृष्टि थे, समदृष्टि ही बने रहे। निरन्तर वर्षा करते मेघमाली पर धरणेन्द्र को क्रोध आ गया। उसने मेघमाली को फटकारते हुए वास्तविकता से अवगत कराया। उसने मेघमाली को यह भी कहा कि 'तू उपकार का बदला अपकार से देने का मार्ग कहाँ से सीख कर आया। जिन्होंने तुझे अज्ञान के अंधकार से निकाल कर सन्मार्ग का दर्शन करवाया उनके प्रति तू इतना कृतघ्न हो गया। अपने उपकारी पर उपसर्ग कर उन्हें कष्ट पहुँचा रहा है। इतना स्मरण रख कि तू जो कुछ भी कर रहा है, उससे भगवान् का तो कुछ भी बिगड़ने वाला नहीं है; हाँ, इससे तेरा ही विनाश हो जायेगा। भगवान् भले ही तेरे उपसर्ग समभाव से सहन कर लें किन्तु मैं सहन करने वाला नहीं हूँ।' धरणेन्द्र की फटकार का प्रभाव हुआ। भयभीत होकर मेघमाली ने अपनी माया समेटी, क्षमा-याचना की और वहाँ से चला गया। धरणेन्द्र भी भगवान् की सेवाभक्ति कर अपने स्थान पर चला गया।

इस प्रकार उपसर्ग पर विजय प्राप्त करने के पश्चात् भगवान् अपनी साधना में सतत तल्लीन रहे और विचरण करते रहे और छद्मस्थावस्था की तिरासी रात्रियाँ पूर्ण कर वाराणसी के आश्रमपद उद्यान में पधार गए।

केवलज्ञान :

भगवान् चौरासीवें दिन आश्रमपद उद्यान में धातकी वृक्ष के नीचे ध्यानस्थ हो गए। अष्टम तप के साथ शुक्लध्यान के द्वितीय चरण में समस्त घातिक कर्मों की निर्जरा करने के साथ ही भगवान् को केवलज्ञान-केवलदर्शन की उपलब्धि हो गई। वह दिन था चैत्र कृष्णा चतुर्थी और विशाखा नक्षत्र में चन्द्र का योग था।

भगवान् को केवलज्ञान का उपार्जन हो गया है, इस सूचना को पाकर महाराज अश्वसेन भगवान् को वन्दन करने आए। देव-देवेन्द्रों ने भी प्रसन्नता प्रकट करते हुए केवलज्ञान की महिमा प्रतिपादित की। देवताओं ने भव्य समवसरण की रचना की और उसमें विराजकर भगवान् ने अपनी प्रथम देशना दी। अपनी धर्म-देशना में भगवान् ने इन्द्रियों के दमन और कषायों पर विजय प्राप्त करने का उपदेश दिया। भगवान् ने यह भी प्रतिपादित किया कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र के व्यवहार से ही मनुष्य मुक्ति पा सकता है। धर्म की साधना कर कर्मों की निर्जरा कर सकता है। धर्महीनता से जीवन में एक शून्य का निर्माण हो जाता है, इसलिये जीवन में धर्माराधना परमावश्यक

है। भगवान् की प्रभावपूर्ण देशना श्रवण कर हजारों नर-नारियों ने श्रमण धर्म अंगीकार कर लिया। महाराज अश्वसेन भी विरक्त हो गये। उन्होंने अपने पुत्र का राज्याभिषेक किया और भगवान् के पास दीक्षाव्रत अंगीकार कर लिया। माता वामादेवी और पत्नी प्रभादेवी ने भी संयमव्रत अंगीकार कर लिया। अन्य हजारों नर-नारियों ने श्रावक धर्म स्वीकार किया। इस प्रकार भगवान् ने चतुर्विध संघ की स्थापना की और भाव तीर्थंकर कहलाये।

परिनिर्वाण :

भगवान् पार्श्वनाथ सत्तर वर्ष तक जन-जन के कल्याण के लिए ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए धर्मोपदेश देते रहे। भगवान् के उपदेश से हजारों व्यक्तियों ने सन्मार्ग का अनुसरण किया।

जब भगवान् को अहसास हुआ कि अब उनका मोक्ष काल निकट है तो वे तैंतीस साधुओं के साथ सम्मेत शिखर पर पधार कर अनशन व्रत ग्रहण कर लिया। शुक्लध्यान के चतुर्थ चरण में भगवान् ने समस्त कर्मों की निर्जरा की और श्रावण शुक्ला अष्टमी को विशाखा नक्षत्र में वे सिद्ध-बुद्ध और मुक्त हो गए। उन्होंने मोक्ष पद प्राप्त कर लिया। भगवान् की कुल आयु सौ वर्ष थी।

धर्म-परिवार :

भगवान् पार्श्वनाथ के धर्म-परिवार का विवरण इस प्रकार है—

गणधर	१०
केवली	१००
मनःपर्यवज्ञानी	७५०
अवधिज्ञानी	१४००
चौदह पूर्वधारी	३५०
वैक्रियलब्धिधारी	११००
वादी	६००
अनुत्तरोपपातिक मुनि	१२००
साधु	१६०००
साध्वी	३८०००
श्रावक	१६४०००
श्राविका	३२७०००

भगवान् पार्श्वनाथ के धर्म-शासन में एक हजार साधुओं और दो हजार साध्वियों ने सिद्धि का लाभ प्राप्त किया था।

भगवान् के गणधरों के नाम इस प्रकार हैं—

(१) शुभदत्त, (२) आर्य घोष, (३) वशिष्ठ, (४) आर्य ब्रह्म, (५) सोम, (६) आर्यश्रीधर, (७) वारिसेन, (८) भद्रयश, (९-१०) जय एवं विजय।

भगवान् का चातुर्यास धर्म :

भगवान् पार्श्वनाथ का धर्म चातुर्याम धर्म कहलाता है। इनके चार व्रत हैं—(१) सर्वथा प्राणातिपात विरमण-हिंसा का त्याग अर्थात् अहिंसा व्रत। (२) सर्वथा मृषावाद विरमण-असत्य का त्याग अर्थात् सत्य। (३) सर्वथा अदत्तादान विरमण-चौर्यत्याग अर्थात् अस्तेय। और (४) सर्वथा बहिद्धादान विरमण-परिग्रह त्याग अर्थात् अपरिग्रह।

भगवान् ने इस चातुर्याम धर्म को आत्म-साधना का पुनीत मार्ग बतलाया। चातुर्याम धर्म में ब्रह्मचर्य को पृथक् याम नहीं माना गया है वरन् उसे अपरिग्रह के अन्तर्गत लिया गया है। चातुर्याम और पंचयाम में शब्द-भेद है, साधना तो दोनों की समान ही है।

विहार क्षेत्र एवं प्रभाव :

भगवान् पार्श्वनाथ का व्यापक प्रभाव माना जाता है। बताया तो यहाँ तक जाता है कि भगवान् का प्रभाव मिश्र, ईरान, साइबेरिया, अफगानिस्तान आदि सुदूर देशों तक व्याप्त था। भगवान् पार्श्वनाथ ने कहाँ-कहाँ विहार किया, चातुर्मास किया? इसकी जानकारी ग्रंथों में नहीं मिलती है। सामान्य रूप से जो सामग्री उपलब्ध है, उसके आधार पर कहा जा सकता है कि भगवान् ने सुदूर प्रदेशों में विचरण करते हुए धर्म-प्रचार किया। काशी कोशल से नेपाल तक भगवान् का विहार क्षेत्र रहा। यह माना जा सकता है कि भगवान् पार्श्वनाथ ने कुरु, काशी, कौशल, अवंति, पौण्ड्र, मालव, अंग-बंग, कलिंग पांचाल, मगध, विदर्भ, दशार्ण, सौराष्ट्र, कर्नाटक, कोंकण, मेवाड़, लाट, द्रविड़ कच्छ, काश्मीर, शाक, पल्लव, वत्स और आभीर आदि क्षेत्रों में विहार किया।

दक्षिण भारतीय क्षेत्र उन दिनों अनार्य क्षेत्र माना जाता था, फिर भी भगवान् व उनकी परम्परा के श्रमण वहाँ पहुँचे थे।

सिकन्दर और ह्वेनसांग ने निर्ग्रन्थ संतों को मध्य एशिया के 'कियारिशी' नगर में देखा था। इन सब विवरणों से भगवान् के विस्तृत विहार क्षेत्र एवं अप्रतिहत प्रभाव की जानकारी मिलती है। भगवान् पार्श्वनाथ ऐतिहासिक काल के दूसरे तीर्थंकर हुए।

□□□

२४ भगवान् महावीर स्वामी

सिंह

भगवान् पार्श्वनाथ के दो सौ पचास वर्ष पश्चात् भगवान् महावीर स्वामी चौबीसवें और इस काल के अन्तिम तीर्थंकर हुए। जिस युग में भगवान् महावीर स्वामी हुए, उस समय देश और समाज की दशा काफी विकृत हो चुकी थी। धर्म के नाम पर आडम्बर का बोलबाला था। पार्श्वकालीन धर्म के प्रति रुचि गंद पड़ गई थी। ब्राह्मण संस्कृति का प्रभाव अधिक था। इस कारण श्रमण संस्कृति दब-सी गई थी। यज्ञों में बलि दी जाती थी। जिसके कारण हिंसा का बोलबाला था। समाज मे भेदभाव था। निम्नवर्ग दबा हुआ था। स्त्रियों की दशा अत्यन्त शोचनीय थी। उन्हें दासी माना जाता था और स्वतन्त्रता का अधिकार तो था ही नहीं। राजनैतिक दृष्टि से भी यह समय उथल-पुथल से भरा हुआ था। महावीरकालीन सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक आदि विषयों पर विस्तार से चर्चा करना हमारी विषयवस्तु नहीं है। अस्तु, हम अपने मूल विषय पर ही चर्चा करेंगे।

पूर्वभव :

भव-भवों की साधना के पश्चात् ही तीर्थंकर पद की उपलब्धि सम्भव हो पाती है। भगवान् महावीर स्वामी के सत्ताईस भवों की जानकारी जैन साहित्य में मिलती है। दिगम्बर परम्परा में भगवान् के तैंतीस भवों की जानकारी उपलब्ध होती है। यहाँ श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार सत्ताईस भवों का उल्लेख करना उचित समझते हैं। यथा—

(१) नयसार ग्राम चिन्तक, (२) सौधर्मदेव, (३) मरीचि, (४) ब्रह्म स्वर्ग का देव, (५) कौशिक ब्राह्मण (अनेक भव), (६) पुष्यमित्र ब्राह्मण, (७) सौधर्म देव, (८) अग्निद्योत, (९) द्वितीय कल्प का देव, (१०) अग्निभूत ब्राह्मण, (११) सनत्कुमार देव, (१२) भारद्वाज, (१३) माहेन्द्रकल्प का देव, (१४) स्थावर ब्राह्मण, (१५) ब्रह्मकल्प का देव, (१६) विश्वभूति, (१७) महाशुक्र का देव, (१८) त्रिपृष्ठनारायण, (१९) सातवीं नरक, (२०) सिंह, (२१) चतुर्थ नरक (अनेक भव, अन्त मे पहली नरक का नेरिया), (२९) पोट्टिल (प्रियमित्र) चक्रवर्ती,

(२३) महाशुक्रकल्प का देव, (२४) नन्दन, (२५) प्राणत देवलोक, (२६) देवानन्दा के गर्भ मे और (२७) त्रिशला की कुक्षि से भगवान् महावीर।

यहाँ यह उल्लेख करना उचित ही होगा कि ये सत्ताईस भव केवल प्रमुख भव हैं। इन भवों के मध्य भगवान् के जीव ने अगणित भवो में भ्रमण किया।

महाशुक्र देवलोक का सतरह सागरोपम का आयुष्य पूर्ण होने पर नयसार के जीव ने २४वें भव में वहाँ से च्यवन कर जम्बूद्वीप में भरत क्षेत्र की छत्रा नामक नगरी के राजा जितशत्रु की भद्रा रानी की कुक्षि से राजकुमार नंदन के रूप में जन्म लिया। राजा जितशत्रु ने नंदन के युवा होने पर अपना राज्य उसे सौंपा और स्वयं दीक्षाव्रत अंगीकार कर साधना में लीन हो गये। चौबीस लाख वर्ष तक गृहस्थावस्था में रहते हुए सुख-भोग किया और फिर पोट्टिलाचार्य की सेवा मे पहुँच कर दीक्षाव्रत ग्रहण कर लिया। संयमव्रत अंगीकार करने के पश्चात् कठोर तपश्चर्या भी की और ग्यारह अंगों का अध्ययन भी किया। एक लाख वर्ष संयम काल रहा। इसमें ग्यारह लाख साठ हजार मासखमण किये। तपाराधना और अर्हत् भक्ति आदि के द्वारा नंदन मुनि ने तीर्थंकर नाम कर्म का उपार्जन किया। अंतिम समय में दो मास के अनशन के साथ देह का त्याग किया और प्राणत देवलोक के पुष्पोत्तर विमान में देव रूप से उत्पन्न हुए।

जन्म एवं वंश :

प्राणत देवलोक की बीस सागरोपम की आयु पूर्ण होने पर नयसार के जीव ने २६वें भव में वहाँ से च्यवन किया और भरत क्षेत्र के ब्राह्मण कुण्डग्राम के प्रमुख ऋषभदत्त ब्राह्मण की धर्मपत्नी देवानन्दा की कुक्षि में आषाढ़ सुदि ६ को उत्पन्न हुआ। उसी रात्रि में माता देवानन्दा ने महामंगलकारी चौदह शुभ स्वप्न देखे। स्वप्न-शास्त्रियों ने एक स्वर में घोषित किया कि इस घर में तीर्थंकर का जन्म होने वाला है। इस सूचना से माता-पिता दोनों हर्ष-विभोर हो गए। माता देवानन्दा पूर्ण सावधानी के साथ गर्भ का पालन करने लगी।

गर्भ-परिवर्तन :

शक्रेन्द्र ने अपने अवधिज्ञान से जान लिया कि तीर्थंकर महावीर देवानन्दा ब्राह्मणी के गर्भ में उत्पन्न हो चुके हैं। शक्रेन्द्र ने विचार किया कि परम्परा से तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, प्रतिवासुदेव तो उच्च सत्तासीन कुल में ही उत्पन्न होते हैं, पराक्रमी उच्च कुल में ही जन्म लेते हैं। आश्चर्य इस बात का है कि भगवान् महावीर का जीव देवानन्दा ब्राह्मणी के गर्भ में उत्पन्न क्यों

हुआ ? ब्राह्मण कुल तो याचक कुल है। वर्तमान युग में क्षत्रिय कुल प्रभावशाली है, उसी कुल में भगवान् का जन्म होना चाहिए। इसलिए भगवान् के गर्भ का संहरण करवा कर उसे किसी प्रभावशाली क्षत्रिय कुल में स्थापित करवाना चाहिए।

अपने विचार को क्रियान्वित करने के लिए शक्रेन्द्र ने हरिणगमेशी देव को बुलाकर उसे समझाया कि इस समय अन्तिम तीर्थंकर का जीव देवानन्दा ब्राह्मणी के गर्भ में पल रहा है। वहाँ से उसका संहरण कर क्षत्रियकुण्ड नगर के राजा सिद्धार्थ की रानी त्रिशला की कुक्षि में स्थापित करना है। रानी त्रिशला के गर्भ में पल रहे जीव को देवानन्दा के गर्भ में स्थापित कर दिया जाये। इस कार्य को सम्पन्न कर मुझे सूचना दी जावे।

शक्रेन्द्र की आज्ञा मिलते ही हरिणगमेशी गंतव्य की ओर रवाना हो गया। जिस समय वह देवानन्दा के वहाँ पहुँचा, उस समय वह गहरी निद्रा में लीन थी। गर्भकाल की वह तिरासीवीं रात्रि थी। देव ने भगवान् को वन्दन किया और गर्भ-संहरण के लिए अनुमति प्राप्त की। तत्पश्चात् उसने गर्भ का सावधानीपूर्वक संहरण कर महारानी त्रिशला की कुक्षि में स्थापित किया और महारानी त्रिशला के गर्भ के जीव का संहरण कर देवानन्दा की कुक्षि में स्थापित किया। संहरण क्रिया को सम्पन्न करते समय देव ने दोनों माताओं को अवस्वापिनी निद्रा में सुला दिया था। उसी रात्रि में दोनों माताओं ने चौदह महामंगलकारी स्वप्न देखे। अंतर इतना था कि माता त्रिशला ने स्वप्नों को आते हुए देखा और माता देवानन्दा ने जाते हुए देखा। गर्भ परिवर्तन का यह दिन आसोज कृष्णा त्रयोदशी का था।

महारानी त्रिशला शुभ स्वप्नों के प्रभाव से हर्ष विभोर थी। उसने इन स्वप्नों के बारे में अपने पति महाराज सिद्धार्थ को बताया। वे भी गद्‌गद हो गए। प्रातःकाल स्वप्नशास्त्रियों को बुलाकर उन्हें स्वप्नों का विवरण बताया गया तथा स्वप्नों का फल बताने का आग्रह किया गया। स्वप्नशास्त्रियों ने बताया कि ऐसे स्वप्न देखने वाली माता तीर्थंकर को जन्म देती है। निश्चय ही महारानी के गर्भ में तीर्थंकर का जीव आया है। स्वप्नों का फल सुनकर राज-परिवार की प्रसन्नता असीम हो गई। स्वप्नशास्त्रियों को पर्याप्त धनराशि देकर सम्मानित किया गया।

भगवान् महावीर का जीव जैसे ही महारानी त्रिशला की कुक्षि में आया वैसे ही राज्य में धन-धान्य में वृद्धि होने लगी और राजकोष में भी अप्रत्याशित

वृद्धि होने लगी। साथ ही महाराज सिद्धार्थ का सम्मान भी समीपवर्ती राज्यों में बढ़ने लगा।

प्रतिज्ञा :

गर्भकाल का सातवाँ माह चल रहा था। गर्भस्थ जीव ने विचार किया कि उसकी हलन-चलन से माता को कष्ट होता है। अतः माता को कष्ट से बचाने के लिए निश्चल हो जाना चाहिए। ऐसा विचारकर गर्भस्थ जीव ने हलन-चलन बंद कर दी। गर्भ में स्पन्दन न होने से माता एकदम चिंतित हो गई। वह किसी अनिष्ट के भय से आतंकित हो गई। माता तो बिलख-बिलख कर रोने लगी। उसकी आँखों से अविरल अश्रु-धारा प्रवाहित होने लगी। माता की ऐसी स्थिति देखकर सभी चिंतित हो गए। भगवान् के जीव ने अवधि ज्ञान से देखा तो उन्हें सम्पूर्ण दृश्य हृदयविदारक दिखाई दिया। वे दुःख और चिंता का कारण तत्काल समझ गए। उन्होंने गर्भ में पुनः हलन-चलन शुरू कर दिया। उनकी इस क्रिया से परिवार में पुनः प्रसन्नता की लहर छा गई। माता-पिता की अपने प्रति ऐसी ममता एवं स्नेह देखकर भगवान् ने गर्भ में ही विचार किया कि माता-पिता के जीवित रहते दीक्षा नहीं लूँगा। उनके मरणोपरांत आत्म-कल्याण का मार्ग अपनाऊँगा।

गर्भकाल पूर्ण हुआ और चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र में मध्य रात्रि में माता त्रिशला ने सुखपूर्वक पुत्ररत्न को जन्म दिया। प्रसूति कर्म छप्पन दिक्कुमारियों द्वारा सम्पन्न किया गया। सर्वप्रथम सौधर्म देवलोक के इन्द्र ने जन्मोत्सव मनाया। नवजात शिशु को उन्होंने अपने हाथों में लिया और उसकी प्रतिकृति को माता के समीप रखा। उन्होंने पाँच रूप धारण किये फिर बालक को मेरु पर्वत के पुंडरीक वन में ले गए। वहाँ पूर्वाभिमुख हुए बालक को अपनी गोद में रखा और एक शिला पर बैठ गए। सभी इन्द्र-इन्द्राणियों-देवों ने मिलकर जन्माभिषेक किया।

इस समय भगवान् के शरीर प्रमाण को देखकर इन्द्र के अन्तर मानस में संदेह उत्पन्न हुआ कि यह छोटा-सा बालक अभिषेक की जलधारा सहन कर पायेगा भी अथवा नहीं? अपने अवधिज्ञान से भगवान् सब कुछ जान गए। तीर्थंकर तो अनंत शक्ति के स्वामी होते हैं। शरीर प्रमाण का उन पर कोई प्रभाव नहीं होता है। अपनी शक्ति बताने और इन्द्र की शंका का निवारण करने के लिए भगवान् ने अपने पैर के अंगूठे से मेरु पर्वत को थोड़ा-सा दबाया। भगवान् के अंगूठे का दबाव पड़ते ही मेरु पर्वत कम्पायमान हो गया।

इससे इन्द्र संकोच में पड़ गया। उसके संदेह का समाधान हो गया। अभिषेकोपरांत बालक को पुनः माता के पास रख दिया गया।

महाराज सिद्धार्थ ने अपने पुत्र का जन्मोत्सव धूमधाम से मनाया। पूरे राज्य में जन्मोत्सव की धूम रही। इस अवसर में प्रजा का हर्ष एवं उत्साह द्रष्टव्य था। कारागार से बन्दियों को मुक्त कर दिया गया। नागरिकों का कर माफ कर दिया। याचकों को मनोवांछित दान दिया गया। जन्मोत्सव और नगर की साज-सज्जा की स्मृति कई दिनों तक लोगों के मस्तिष्क में छायी रही।

नामकरण :

नामकरण वाले दिन महाराज सिद्धार्थ ने परिजनों और मित्रों को बताया कि जब से बालक माता के गर्भ में आया, तब से ही सम्पूर्ण ज्ञातृकुल चांदी, स्वर्ण, धन-धान्य, राज्य-राष्ट्र, सेना, वाहन, कोष, कोष्ठागार, नगर, अन्तःपुर, जनपद, यश और कीर्ति से वृद्धि प्राप्त करने लगा। ज्ञातृकुल के लोगों में परस्पर प्रीति, आदर और सत्कार-सद्भाव बढ़ने लगा। इसीलिये बालक का गुणनिष्पन्न नाम वर्द्धमान रखना उचित लगता है। सबने इस नाम के प्रति अपनी सहमति प्रकट की और बालक का नाम वर्द्धमान रखा गया। अधिकांश जैन आगम ग्रंथ तथा अन्य ग्रंथ भी इसी नाम का समर्थन करते हैं। वर्द्धमान के अतिरिक्त भगवान् के कुछ अन्य नाम भी मिलते हैं। यथा—वीर-महावीर जो सर्वाधिक प्रचलित हैं। सन्मति, काश्यप, ज्ञात पुत्र-ज्ञात कुल के होने के कारण आदि-आदि। आगम ग्रंथों में भगवान् को वैशालिक भी कहा गया है। इस नाम का कारण माता का वैशाली वंश का होना है। भगवान् को विदेह और काश्यप नाम भी दिया गया है। भगवान् को गृहस्थावस्था में तो वर्धमान नाम से सम्बोधित किया जाता था। वीर और फिर महावीर नाम तो बाद में पड़ा।

बाल-लीला :

उच्च-पवित्र संस्कारों के बीच भगवान् महावीर का लालन-पालन हुआ। पाँच सुदक्ष दाइयाँ आपकी सेवा में सदैव तत्पर रहती थीं। चन्द्रकला की भाँति भगवान् बढ़ रहे थे। समय के प्रवाह के साथ विभिन्न प्रकार की बाल-लीलायें करते हुए भगवान् आठ वर्ष के भी नहीं हुए थे कि खेल-खेल में उनके जीवन की घटनायें सामने आईं, जिनसे उनके अद्वितीय बल-पराक्रम और निर्भय होने का प्रमाण मिलता है।

बच्चों का ही नहीं, मानव स्वभाव है कि वह अपने मनोरंजन के लिए कुछ क्रीड़ाएँ करता है। भगवान् भी अपनी बाल्यावस्था में अपने समवयस्क बालकों के साथ एक खेल खेलने लगे। इस खेल का नाम आमलकी था।

जिस समय भगवान् अन्य बालकों के साथ आमलकी क्रीड़ा खेलने में मग्न थे, उसी समय सौधर्मेन्द्र ने अपनी सभा में बालक वर्धमान की बुद्धि, विवेक एवं साहस की प्रशंसा की और बताया कि उसका मुकाबला मनुष्य-तिर्यंच तो क्या, देवता भी नहीं कर सकते। एक देव को इन्द्र की इस बात पर विश्वास नहीं हुआ। वह इसे अतिशयोक्तिपूर्ण कथन मानकर बालक वर्धमान की परीक्षा लेने वहीं आया, जहाँ सब बालकों के साथ वर्धमान आमलकी खेल खेल रहे थे। आमलकी क्रीड़ा में सभी बालक किसी एक वृक्ष को लक्ष्य कर दौड़ते हैं, जो बालक सबसे पहले वृक्ष पर चढ़कर उतर जाता है, वह विजयी माना जाता है और पराजित बालकों के कंधे पर बैठकर वहाँ तक जाता है, जहाँ से दौड़ शुरू हुई थी। जिस समय वह देव वहाँ आया, उस समय वर्धमान अपने साथी बालकों के साथ वृक्ष पर चढ़ने के लिए दौड़ रहे थे। देव ने एक भयंकर सर्प का रूप धारण किया और वृक्ष की एक शाखा से लिपट कर फुफकारने लगा। जब बालकों ने सर्प को फुफकारते हुए देखा तो वे भयभीत होकर "बचाओ-बचाओ, वृक्ष के पास विषैला सर्प है। उससे रक्षा करो।" वर्धमान ने अपने स्थान से सर्प को देखा फिर वे कुछ आगे बढ़े, सर्प को पकड़ा और एक ही झटके में दूर फेंक दिया। तब सर्प किधर गया, किसी को नहीं दिखा। सर्प का संकट दूर हो गया।

रुका हुआ खेल फिर शुरू हुआ। इस बार आमलकी के स्थान पर 'तिंदूसक' खेल खेलना शुरू किया। इस खेल में ऐसा होता है कि किसी एक वृक्ष को लक्ष्य बनाकर उसकी ओर बालक दौड़ते हैं। जो बालक सबसे पहले उस वृक्ष तक पहुँच कर उसे स्पर्श कर लेता है, वह विजयी माना जाता है तथा शेष बालक पराजित माने जाते हैं। उस देव ने एक बालक का रूप धारण किया और खेल में सम्मिलित हो गया। इस खेल का एक नियम यह भी था कि पराजित बालक जीते हुए बालक की पीठ पर सवार होकर निश्चित स्थान तक जाता था। बालक बना देव वर्धमान से पराजित हो गया। नियमानुसार वर्धमान उसकी पीठ पर सवार हुए। उनके सवार होते ही वह दौड़ लगाने लगा। वह जैसे-जैसे दौड़ लगा रहा था, वैसे-वैसे उसका आकार बढ़ता जा रहा था। उसकी दैत्याकार देह को देखकर अन्य बालक भयभीत होकर चिल्ला-चिल्लाकर भागने लगे। बालकों की चिल्लाहट सुनकर समीपस्थ क्षेत्रों के लोग वहाँ आकर एकत्र होने लगे। महावीर इस माया को तत्काल समझ गये। उन्होंने उस देव की माया का अंत करने के लिए उसकी पीठ पर मुष्टि का प्रहार किया। उनके तीव्र मुष्टि प्रहार को देव सहन नहीं कर पाया और

उसी समय नीचे बैठ गया। देव जान गया कि इन्द्र ने जो कहा था, वह सत्य है, वर्धमान को पराजित करना उसकी सामर्थ्य के बाहर है। ऐसा विचारकर देव अपने वास्तविक रूप में प्रकट हुआ और इसने सही-सही बताकर उनकी प्रशंसा की तथा यह भी कहा कि आप वीर ही नहीं, महावीर हैं। ऐसा कहकर वह देव स्व-स्थान पर चला गया।

विद्यालय में :

माता-पिता को अपने पुत्र वर्धमान के तीन ज्ञान का धारक होने का और उसकी अद्‌भुत अलौकिक प्रतिभा का परिचय नहीं था। इसलिये वर्धमान के आठ वर्ष का होते ही उन्होंने अपने पुत्र वर्धमान को कलाचार्य के पास विद्याध्ययन के लिए भेजा। इस अवसर पर महाराज सिद्धार्थ ने परम्परा का भी अनुसरण किया और पण्डित को वस्त्राभूषण भेंट किये। अन्य बालकों को श्रेष्ठ खाद्य पदार्थ वितरित किये। वर्धमान के बैठने के लिए विशेष आसन की व्यवस्था की गई।

जिस समय माता-पिता वर्धमान को विद्याध्ययन के लिए ले जा रहे थे, उसी समय इन्द्र का आसन चलायमान हुआ। उसने अपने अवधिज्ञान से देखा कि विशिष्ट ज्ञानी वर्धमान को माता-पिता विद्याध्ययन के लिए ले जा रहे हैं। इन्द्र ने विचार किया कि विशिष्ट ज्ञानवान, अलौकिक प्रतिभा के धनी वर्धमान को सामान्य व्यक्ति क्या और कैसे पढ़ा सकेगा!? इन्द्र ने वर्धमान की प्रतिभा का परिचय करवाने के लिए ब्राह्मण का वेश धारण किया और वहाँ उपस्थित हुआ। कला गुरुओं और छात्रों की उपस्थिति में ब्राह्मण रूपी इन्द्र ने व्याकरण सम्बन्धी अनेक जटिल प्रश्न पूछे। कलागुरु तो प्रश्न सुनकर ही उलझन में पड़ गए। वे इन प्रश्नों का समाधान नहीं कर पाये। जब वर्धमान से इन प्रश्नों के उत्तर पूछे तो उन्होंने एक के बाद एक प्रश्न के उत्तर तत्काल दे दिये। वहाँ उपस्थित सभी व्यक्ति वर्धमान की अलौकिक प्रतिभा और बुद्धि-कौशल को देखकर आश्चर्यचकित रह गये। कलागुरु ने विचार किया कि जो बालक इतना बुद्धि सम्पन्न है, उसे वह कैसे पढ़ा सकता है। कलागुरु वर्धमान को आश्चर्य-दृष्टि से देखने लगा। ब्राह्मण वेशधारी इन्द्र ने कहा—"यह बालक कोई सामान्य बालक नहीं है। यह विद्या का सागर और सम्पूर्ण शास्त्रों का पारगामी है।" इस कथन के साथ इन्द्र रूपी ब्राह्मण ने महावीर के मुख से व्याकरण सम्बन्धी जो उत्तर सुने थे, उनको व्यवस्थित रूप से संकलित कर उसे ऐन्द्र व्याकरण की संज्ञा दी।

माता त्रिशला और पिता राजा सिद्धार्थ ने जब अपने पुत्र की असाधारण प्रतिभा देखी, बौद्धिक कौशल देखा तो उनका रोम-रोम गद्‌गद हो गया। उन्हें लगा कि उनका पुत्र तो गुरुओं का गुरु है।

विवाह :

जब वर्धमान युवा हुए तो माता-पिता ने उनके विवाह की तैयारियाँ शुरू कर दी। वर्धमान विवाह नहीं करना चाहते थे। इसलिये उन्हें विवाह के लिए सहमत करने का कार्य उनके मित्रों को सौंपा गया। विवाह प्रकरण को लेकर मित्रों से लम्बा वाद-विवाद चल पड़ा। इसी बीच माता महारानी त्रिशला ने आकर वर्धमान से कहा—"पुत्र! विवाह करने की तेरी इच्छा भले ही न हो, किन्तु मेरी इच्छा है कि तेरा विवाह हो। तूने मेरा हृदय कभी नहीं दुखाया है। मेरा विश्वास है कि तू इस प्रसंग पर भी मेरी बात मानकर विवाह कर लेगा।"

अपने भोग-कर्मों की स्थिति को देखकर वर्धमान मौन हो गए। उनके मौन को माता ने उनकी स्वीकृति मान ली और उसी समय उनके विवाह की घोषणा कर दी।

महाराज सिद्धार्थ ने बसंतपुर के राजा समरवीर की रानी पद्मावती से उत्पन्न पुत्री यशोदा से धूमधाम के साथ वर्धमान का विवाह कर दिया। वर्धमान अनासक्त भाव से गृहस्थ जीवन जीते हुए समय व्यतीत करने लगे। यशोदा से एक पुत्री का जन्म हुआ, जिसका नाम प्रियदर्शना रखा गया। जब प्रियदर्शना युवा हुई तो उसका विवाह राजकुमार जमालि के साथ सानंद सम्पन्न कर दिया गया।

दिगम्बर परम्परा वर्धमान को अविवाहित मानती है।

दीक्षा :

भगवान् महावीर के जीव ने गर्भ में ही यह प्रतिज्ञा कर ली थी कि अपने माता-पिता के जीवित रहते हुए वह दीक्षाव्रत अंगीकार नहीं करेगा। उनके माता-पिता भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा के उपासक थे। वर्धमान की आयु बढ़ रही थी और उसके साथ ही उनके वैराग्य भाव भी तरंगित हो रहे थे, किंतु माता-पिता के दुःख का ध्यान रखते हुए; वे दीक्षाव्रत अंगीकार करने की बात तक नहीं करते थे। जब वर्धमान अट्ठाईस वर्ष के हुए, तब उनके माता-पिता दोनों ने अनशन व्रत स्वीकार कर देह का त्याग किया और वे बारहवें अच्युत देवलोक में महर्धिक देव के रूप में उत्पन्न हुए। अपने माता-पिता के स्वर्गवास के पश्चात् वर्धमान ने ज्येष्ठ भ्राता नन्दिवर्धन से दीक्षा ग्रहण करने के लिए अनुमति माँगी। इस पर नन्दिवर्धन ने कहा कि भाई! तुम यह कैसी अनुमति

माँग रहे हो। अभी माता-पिता के वियोग का दुःख दूर भी नहीं हुआ और तुम भी छोड़कर जाना चाहते हो! जब तक स्थिति सामान्य न हो जावे, तब तक तुम न तो जाने की बात करना और न दीक्षा आदि की।

वर्धमान ने विचार किया कि उसके जाने से अग्रज को दुःख होगा। फिर ज्येष्ठ भ्राता की आज्ञा का उल्लंघन करना भी उचित नहीं होगा। ऐसा विचार कर उन्होंने अपने अग्रज से ही कहा—"मुझे गृहस्थावस्था में कब तक रहना है? आप स्वयं ही समय सीमा निर्धारित कर दें।"

"तुम कम से कम दो वर्ष तो और मेरे साथ रहो।" नन्दिवर्धन ने कहा। अपने अग्रज की बात को स्वीकार कर वे दो वर्ष और गृहस्थावस्था में रहे। इन दो वर्षों में उनका जीवन पूर्ण त्यागमय रहा। रात्रिभोजन नहीं करते, सचित जल नहीं पीते, भूमि पर सोते और ब्रह्मचर्य का पालन करते। बेले-बेले तप करते। इस प्रकार एक वर्ष व्यतीत हो गया। जब गृहस्थावस्था का एक वर्ष शेष रह गया, तब लोकांतिक देवों ने आकर धर्म-प्रवर्तन की प्रार्थना की। वर्धमान ने वर्षीदान देना प्रारम्भ किया। पूरे वर्ष में तीन अरब अट्ठासी करोड़ अस्सी लाख स्वर्ण मुद्राओं का दान किया। वर्षीदान की समाप्ति के साथ ही उनके दीक्षोत्सव की तैयारियाँ शुरू हो गईं।

महावीर ने स्नान किया। चंदनादि का लेप कर सुन्दर वस्त्राभूषण धारण किए और देव निर्मित चन्द्रप्रभा शिविका में विराज कर दीक्षार्थ अभिनिष्क्रमण किया। वर्धमान क्षत्रियकुण्डग्राम के मध्य भाग में होते हुए ज्ञातृ-खण्ड-उद्यान में पधारे और अशोक वृक्ष के नीचे शिविका से उतरे। वर्धमान ने वस्त्रालंकार उतारे और मिगसिर कृष्णा दशमी को उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र में पंचमुष्टि लोच कर निर्जल बेले की तपस्या से भगवान् ने दीक्षा व्रत अंगीकार किया। उसी समय उन्हें मनःपर्यवज्ञान की उपलब्धि हुई। भगवान् महावीर ने दीक्षोपरान्त निम्नांकित संकल्प किया—

"मेरे लिए अब सभी पापकर्म अकरणीय हैं। इनमें से किसी में भी मेरी प्रवृत्ति नहीं रहेगी। मैं आज से सम्पूर्ण पाप-कर्मों का तीन करण और तीन योग से त्याग करता हूँ।"

अभिग्रह :

दीक्षा-व्रत अंगीकार करने के बाद जब सभी वहाँ से विसर्जित हो गए तो भगवान् महावीर ने एक कठोर अभिग्रह धारण किया यथा—

"आज से जब तक केवलज्ञान उत्पन्न न हो, तब तक मैं देह की ममता को छोड़कर रहूँगा। अर्थात् इस बीच में देव, मानव या तिर्यंच जीवों की ओर

से जो भी उपसर्ग कष्ट उत्पन्न होंगे, उनको समभावपूर्वक, सम्यक् रूप से सहन करूँगा।"

भगवान् ने तीस वर्ष की आयु में दीक्षा ग्रहण कर अपनी साधना प्रारम्भ की।

भगवान् ने वहाँ से विहार कर दिया। उस समय सौधर्मेन्द्र ने भगवान् के कंधे पर देवदूष्य वस्त्र रख दिया। भगवान् विहार कर कूर्मार ग्राम पहुँच कर ध्यानावस्थित हो गये।

उपसर्ग एवं पारणा :

कूर्मार ग्राम में भगवान् तो ध्यानमग्न थे। उस समय एक ग्वाला अपने बैल लेकर आया। उसने वहाँ अपने बैल चरने के लिए छोड़ दिये और भगवान् महावीर से कहा कि बाबा बैल चर रहे हैं। वह इतना कह कर अपने दूसरे काम को सम्पन्न करने चला गया। बैल चरते-चरते दूर चले गए। अपना कार्य निपटा कर जब ग्वाला वहाँ आया तो उसने अपने बैल वहाँ नहीं देखकर भगवान् से पूछा। भगवान् तो अपनी साधना में लीन थे। उन्हें न पहले कुछ पता था और न अब। वे अपनी साधना में लीन ही रहे। भगवान् के मौन रहने पर ग्वाला अपने बैल खोजने चल पड़ा। उसे जंगल में कहीं भी बैल नहीं मिले। वह वहीं लौट कर आ गया। उधर बैल चरकर पुनः वहीं लौट कर आ गए थे। ग्वाला रात भर अपने बैल खोजता रहा। उसे कहीं भी बैल नहीं मिले तो वह भी प्रातः लौटकर वहीं आया। वहाँ उसने अपने बैलों को बैठा पाया। इस पर ग्वाले ने समझा कि इस बाबा ने उसके बैल कहीं छिपा कर रखे होंगे। वह उन पर क्रोधित हो गया और बैलों की रस्सी लेकर भगवान् को मारने के लिए उद्यत हुआ।

इन्द्र अवधिज्ञान से भगवान् की चर्या को देख रहा था। उसने जब देखा कि एक ग्वाला भगवान् को मारने को उद्यत है तो इन्द्र ने उसे वहीं स्तम्भित कर दिया और साक्षात् प्रकट होकर कहा—"अरे दुष्ट! तू यह क्या कर रहा है? क्या तू नहीं जानता है कि ये महाराज सिद्धार्थ के सुपुत्र वर्धमान महावीर हैं। इस समय ये आत्म-कल्याण के साथ विश्व का कल्याण करने के लिए दीक्षाव्रत अंगीकार कर साधना में तल्लीन हैं।"

ग्वाला इतना सुनकर थर-थर काँपने लगा और अपने कृत्य के लिए क्षमा-याचना करते हुए चला गया।

इस घटना के पश्चात् इन्द्र ने अपनी सेवायें देने का प्रस्ताव भी किया, किन्तु भगवान् ने यह कह कर उसका प्रस्ताव अस्वीकृत कर दिया कि अरिहन्त

अपनी सिद्धि के लिए किसी की सहायता स्वीकार नहीं करते। वे जो भी करते हैं, अपने ही बल पर करते है। उन्हें किसी के अवलम्बन की आवश्यकता नहीं है। फिर भी इन्द्र ने स्व-संतोष के लिए मारणान्तिक उपसर्ग टालने के लिए सिद्धार्थ नामक व्यंतरदेव को भगवान् की सेवा में नियुक्त किया और भगवान् को वन्दन कर स्व-स्थान पर चला गया।

दूसरे दिन भगवान् विहार कर कोल्लाग सन्निवेश में पधारे, जहाँ बहुल नामक ब्राह्मण के यहाँ परमान्न से उनका छट्ठ तप का प्रथम पारणा सम्पन्न हुआ। 'अहो दानम्' के दिव्य घोष के साथ देवताओं ने पंच दिव्य प्रकटकर दान की महिमा प्रकट की।

साधना का प्रथम वर्ष :

भगवान् विहार करते हुए मोराक सन्निवेश पधारे। यहाँ के दूइज्जंतक आश्रम का कुलपति महाराज सिद्धार्थ का मित्र था। उसने जब भगवान् महावीर को आते देखा तो वह उनके स्वागत में उनके सम्मुख उपस्थित हुआ और उनसे अपने आश्रम में ही ठहरने की विनती की। भगवान् ने उसके विनय को सम्मान दिया और रात भर वहाँ ठहरना स्वीकार कर ठहर गए।

दूसरे दिन जब भगवान् वहाँ से प्रस्थान करने लगे तो कुलपति ने मनुहार कर भगवान् से वहीं वर्षावास व्यतीत करने का आग्रह किया। भगवान् ने कुलपति की प्रार्थना स्वीकार कर यथासमय पुनः वहाँ आकर एक पर्ण-कुटीर में रहने लगे।

इस वर्ष वर्षा नहीं हुई। परिणामस्वरूप दुर्भिक्ष की स्थिति जैसी स्थिति निर्मित हो गई। भूख से बिलबिलाती गायें अपने आहार की खोज में इधर-उधर भटकती हुई आश्रम तक आ गई और पर्ण-कुटियों के तृण खाने लगीं। अन्य कुटियों में रहने वाले परिव्राजकों ने तो गायों को मार भगाया किन्तु प्राणिमात्र के प्रति दया और मैत्रीभाव रखने वाले भगवान् महावीर, जो सम्पूर्ण सावद्य कर्म के त्यागी थे, निस्पृह थे और जो सहज भाव से ध्यान में लीन थे, जिनके मन में न कुलपति के प्रति राग था और न गायों के प्रति ईर्ष्या भाव था। वे पूर्ण निर्मोही थे। रात-दिन अपने ध्यान में ही लीन रहते थे, उन भगवान् महावीर ने गायों को भगाया नहीं। गायें उनकी कुटिया के पर्ण खा गईं।

दूसरे तापसों ने इसकी शिकायत कुलपति से की। कुलपति ने महावीर को उपालम्भ दिया। महावीर को यह उचित नहीं लगा और उन्होंने उसी समय वह स्थान छोड़ने का निश्चय कर लिया। पन्द्रह दिन वर्षा ऋतु के बीत चुके

थे। भगवान् ने वहाँ से विहार कर दिया। विहार करने से पूर्व भगवान् महावीर ने निम्नांकित पाँच प्रतिज्ञाएँ कीं—

(१) अप्रीतिकारक स्थान में कभी नहीं रहूँगा।
(२) सदा ध्यान में रहूँगा।
(३) मौन रहूँगा। किसी से बोलूँगा नहीं।
(४) हाथ में ही भोजन करूँगा।
(५) गृहस्थों का कभी विनय नहीं करूँगा।

यक्ष का उपद्रव :

आश्रम से विहार कर भगवान् महावीर अस्थिग्राम पधारे। अब भगवान् वहाँ पधारे, तब संध्या हो चुकी थी। एकान्त स्थान की खोज में वे ग्राम के बाहर शूलपाणि यक्ष के यक्षायतन में पहुँचे और वहाँ ठहरने की अनुमति चाही। तब ग्रामवासियों ने बताया कि यहाँ एक क्रूर-स्वभावी यक्ष रहता है, वह किसी को भी यहाँ ठहरने नहीं देता है। आपके लिए यही श्रेष्ठ रहेगा कि आप अन्यत्र ठहर जावें। भगवान् ने यक्ष को प्रतिबोधित करने की दृष्टि से यहीं मुकाम किया। पुजारी इन्द्र शर्मा ने भी भगवान् से अन्यत्र जाकर ठहरने की विनती की।

रात्रि गहराई और यक्ष ने प्रकट होकर अट्टहास किया। जिससे समीपवर्ती पूरा प्रदेश भयाक्रांत हो गया। ग्रामवासी भी भयभीत हो गए। यक्ष के अट्टहास का भगवान् महावीर पर कोई प्रभाव नहीं हुआ। यह देखकर यक्ष शूलपाणि को क्रोध आ गया। उसने हाथी, पिशाच आदि विविध रूप धारण कर भगवान् पर प्रहार किये। उसके प्रहारों से असह्य वेदना उत्पन्न होने पर भी भगवान् अडिग रहे और कष्टों को सहन करते रहे। भगवान् की दृढ़ता और अद्‌भुत सहिष्णुता देखकर यक्ष स्वयं उनके सम्मुख पराजित हो गया। उसने अपने कृत्य के लिए भगवान् से क्षमा याचना की और चला गया। उपसर्ग समाप्त हो गए।

रात्रि के अन्तिम प्रहर में भगवान् को मुहूर्त भर नींद आई। उस समय भगवान् ने दस स्वप्न देखे, जो उनके भविष्य को प्रकट करने वाले थे। यहाँ फिर कोई उपसर्ग नहीं हुआ। यहाँ भगवान् ने पन्द्रह-पन्द्रह उपवास की तपस्याएँ कीं। वर्षावास का शेष काल शांतिपूर्ण व्यतीत हुआ।

साधना का दूसरा वर्ष :

वर्षावास के पश्चात् भगवान् ने अस्थिग्राम से विहार कर दिया। भगवान् विभिन्न क्षेत्रों को पावन करते हुए मोराक सन्निवेश पधारे। जहाँ अच्छंदक

नामक पाखंडी के पाखंड को प्रभावहीन किया। वहाँ से भगवान् ने वाचाला की ओर विहार किया। वाचाला जाने के लिए दो मार्ग थे। एक कनकखल आश्रम से होकर जाता था और दूसरा मार्ग आश्रम के बाहर से होकर जाता था। कनकखल वाला भीतरी मार्ग सीधा होकर भी वीरान था। बाह्य मार्ग निरापद था किन्तु लम्बा था। आंतरिक मार्ग पर एक भयंकर दृष्टिविष सर्प रहता था। इस कारण इस मार्ग से कोई आता-जाता नहीं था। जान-बूझकर कौन अपनी मृत्यु को निमन्त्रण दे। भगवान् ने सर्प को प्रतिबोध देने के विचार से आंतरिक मार्ग से जाना उचित समझा।

चण्डकौशिक : हिंसा पर अहिंसा की विजय :

अपने निश्चय के अनुसार भगवान् बढ़ चले। मार्ग में कुछ ग्वाले मिले। उन्होंने इस मार्ग से भगवान् को जाते देखा तो बोले—"भगवन्! आपका इस मार्ग से जाना उचित नहीं है। आगे भयंकर दृष्टिविष सर्प रहता है। वह पथिकों को अपने विष से जलाकर भस्म कर देता है। उसके विष के प्रभाव से उस क्षेत्र की वनस्पति भी नष्ट हो गई है। अच्छा यही होगा कि आप इस मार्ग को त्यागकर बाहरी मार्ग से जावें। वह मार्ग निष्कंटक है।"

भगवान् तो अपना लक्ष्य निश्चित कर चुके थे। उन्होंने न तो ग्वालों की बात पर कोई ध्यान दिया और न उत्तर ही दिया। वे आगे बढ़ गए और जाकर सर्प की बाँबी के निकट खड़े होकर ध्यानमग्न हो गये। उनके हृदय में प्रेम-पीयूष की धारा प्रवाहित हो रही थी। मानवीय गंध पाकर सर्प बाहर निकला। अपनी बाँबी के पास भगवान् को ध्यानलीन देखकर सहम-सा गया। फिर उसे विचार आया—"एक मानव का इतना दुस्साहस कि वह मेरी बाँबी के पास आकर खड़ा हो जाये! इसे अभी भस्मीभूत करता हूँ।" ऐसा विचार आते ही उसने अपने भयंकर विष की फुंफकार मारी। वायु मण्डल में विष व्याप्त हो गया। जो भी जीव उस समय वहाँ थे, काल के गाल में समा गए किन्तु भगवान् अविचल खड़े रहे। अपने विष को अप्रभावी देखकर चण्डकौशिक नामक यह सर्प और क्रोधित हो गया और दुगुने वेग से प्रहार करने लगा। उसने भगवान् के पैर पर दंश प्रहार भी किया। उसे पूरा विश्वास था कि उसका दंश प्रहार निष्फल नहीं होगा। उसने देखा कि भगवान् फिर भी स्थिर हैं। अचंचल खड़े हैं। उसका आश्चर्य उस समय और भी अधिक बढ़ गया, जब उसने देखा कि जहाँ उसने दंश मारा था, वहाँ लाल रक्त के स्थान पर दूध के समान श्वेत रुधिर बह रहा है। भगवान् एकदम शांत एवं सौम्य मुद्रा में अभी भी खड़े हैं। वह सर्प विस्मय की दृष्टि से उनकी ओर देखता रहा।

कुछ क्षणोपरांत उसने पुनः दंश मारा। उसने देखा कि उसका भी भगवान् पर कोई प्रभाव नहीं हुआ है। उसने तीसरी बार प्रहार किया, तब भी भगवान् चट्टान की भांति अडिग खड़े रहे। सर्प यह देखकर घबरा गया। उसका भयंकर विष आज पानी हो गया। वह शांत हो गया। उसने अपनी पराजय स्वीकार कर ली। भगवान् सर्प को शांत देखकर ध्यान से निवृत्त हुए और बोले—"चण्डकौशिक! शांत हो जाओ। क्यों अज्ञानान्धकार में भटक रहे हो। पूर्वजन्म के अपने दुष्कर्मों के कारण तुम्हें सर्प बनना पड़ा है।" भगवान् की अमृत वाणी का प्रभाव हुआ। उसे जाति-स्मरण ज्ञान हो गया। अपने कृत्य पर वह लज्जित हुआ। उसने भगवान् से क्षमा-याचना कर अहिंसक जीवन जीना स्वीकार कर अनशनव्रत ग्रहण कर लिया। उसने अपना मुँह बाँबी में डाल लिया और शेष शरीर बाहर ही रहा। उसके परिवर्तित स्वभाव की जानकारी सबको मिली। लोगों की श्रद्धा उसके प्रति हुई और दूध घी आदि से उसकी लोग पूजा करने लगे। परिणामस्वरूप उसके शरीर पर चींटियाँ लगने लगीं। चींटियों ने उसके शरीर को छलनी बना दिया। वह प्रत्येक वेदना को समभाव से सहता रहा और अन्त में मरकर आठवें देवलोक में देव रूप में उत्पन्न हुआ।

चण्डकौशिक को प्रतिबोध देकर भगवान् ने वहाँ से विहार कर दिया। मार्ग में नदी आने के कारण नौका द्वारा नदी पार की, फिर राजगृह नगर के उपनगर नालन्दा की तन्तुवायशाला में अपना दूसरा वर्षावास किया। यहाँ वर्षावास की समाप्ति पर गोशालक को अपने शिष्य रूप में स्वीकार किया। गोशालक अगले छः वर्ष तक भगवान् के साथ रहा।

साधना का तीसरा वर्ष :

विभिन्न क्षेत्रों में विचरण करते हुए भगवान् चम्पा पधारे और यहीं अपना तीसरा वर्षावास किया। वर्षावास की अवधि में भगवान् ने दो-दो मास की तपस्या की।

साधना का चौथा वर्ष :

वर्षावास की समाप्ति पर भगवान् चम्पा से विहार कर कालाय सन्निवेश पधारे। पत्तकालय, कुमारसन्निवेश को पावन करते हुए भगवान् का पदार्पण चोराकसन्निवेश में हुआ। यहाँ चोर-डाकुओं का आतंक था, इस कारण रक्षक सतर्क रहते थे। भगवान् को देखकर उनके मन में संदेह उत्पन्न हुआ। रक्षकों ने कुछ पूछा किन्तु भगवान् तो मौन ही रहे। रक्षकों ने भगवान् पर प्रहार कर दिया। उत्पल निमित्तज्ञ की बहनों से भगवान् का परिचय जानकर रक्षकों ने

क्षमा-याचना की और उन्हें छोड़ दिया। विविध अभिग्रहों के साथ यह वर्षावास भगवान् ने पृष्ठ चम्पा में व्यतीत किया।

साधना का पाँचवाँ वर्ष :

वर्षावास की समाप्ति के पश्चात् भगवान् ने पृष्ठ चम्पा से विहार कर दिया। कयंगला, श्रावस्ती, हलिद्रुग, नागला, आवत्ता, चौराकसन्निवेश, कलंबुआ आदि क्षेत्र में विचरण करते रहे और उपसर्ग भी समभाव से सहन करते रहे। इस क्षेत्र से भगवान् ने अनार्य देश की ओर विहार किया। लाढ़ देश उन दिनों अनार्य भूमि माना जाता था। उस देश के दो भाग थे, एक वज्रभूमि और दूसरा शुभभूमि। ये उत्तर राढ़ और दक्षिण राढ़ के नाम से भी पुकारे जाते थे। लाढ़ देश में भगवान् के सम्मुख भयंकर उपसर्ग उपस्थित किये गये, जिसे उन्होंने समभाव से सहन करते हुए महान् कर्म-निर्जरा की। तत्पश्चात् विचरण करते हुए भगवान् आर्य देश के मलयदेश की राजधानी भद्दिला नगरी पधारे, जहाँ वर्षावास व्यतीत किया।

साधना का छठा वर्ष :

वर्षावास की समाप्ति पर विहार कर विभिन्न क्षेत्रों में विचरण किया। उपसर्ग भी सहन किये। कष्टों को देखकर गोशालक अलग हो गया। शाली शीर्ष के रमणीय उद्यान में कटपूतना नामक व्यंतर देवी ने भगवान् को बहुत कष्ट दिये। बाद में वह भगवान् से क्षमा-याचना कर चली गई। भद्दिया नगरी में वर्षावास किया।

साधना का सातवाँ वर्ष

आलंभिया में वर्षावास चातुर्मासिक तप के साथ सम्पन्न किया। यह वर्ष उपसर्ग रहित रहा।

साधना का आठवाँ वर्ष :

आलंभिया से विहार कर भगवान् कुण्डाक, मद्दना सन्निवेश एवं बहुसाल होते हुए लोहार्गल पधारे। राजा जितशत्रु के अनुचरों ने शत्रु का आदमी समझ कर उनके सामने उपस्थित किया। अस्थि गाँव के नैमित्तज्ञ उत्पल ने भगवान् को पहचाना। परिचय दिया। क्षमा-याचना कर ससम्मान भगवान् को विदा किया। पुरिमताल, शकटमुख होते हुए भगवन् राजगृह पधारे, वहाँ वर्षावास सम्पन्न किया।

साधना का नौवाँ वर्ष :

राजगृह वर्षावास की समाप्ति के पश्चात् पुनः अनार्य भूमि पधारे। वहाँ अरण्य व खण्डहरों में ध्यानलीन रहे, लोगों ने कष्ट दिये। भगवान् ने समभाव

पूर्वक सहन किये। वहाँ वर्षावास के अनुकूल स्थान नहीं मिला तो चलते-फिरते वर्षावास सम्पन्न किया।

साधना का दसवाँ वर्ष :

अनार्य देश से विहार कर भगवान् आर्य देश पधारे। भगवान् कूर्म ग्राम पधारे। जहाँ वैश्वायन तापस ने गोशालक से विवाद होने पर गोशालक पर तेजोलेश्या का प्रयोग किया। गोशालक घबरकर भगवान् के चरणों में छिप गया। भगवान् ने कृपा कर शीतल लेश्या का प्रयोग कर तेजोलेश्या को प्रभावहीन कर दिया। तापस भगवान् की शक्ति को पहचान गया। उसने विनम्र शब्दों में भगवान् से क्षमा माँगी। गोशालक ने भगवान् से तेजोलेश्या की प्राप्ति का उपाय पूछा। भगवान् के बताने पर वह तेजोलेश्या प्राप्ति की साधना में लग गया। छः मास की साधना के पश्चात् इसने तेजोलेश्या सिद्ध कर ली।

भगवान् विचरण करते हुए वैशाली पधारे, जहाँ बालकों ने पिशाच समझ कर उन्हें सताया। महाराज सिद्धार्थ के मित्र राजा शंख उधर से जा रहे थे। उन्होंने भगवान् को वंदन कर बालकों को वहाँ से भगाया। भगवान् वैशाली होते हुए वाणिज्य ग्राम पधारे। यहाँ पार्श्व परम्परा का अवधिज्ञानी आनंद श्रावक रहता था। उसने भगवान् को वंदन कर कहा—"भगवन्! अल्पकाल में ही आपको केवलज्ञान की उपलब्धि हो जायेगी।" भगवान् यहाँ से विहार कर श्रावस्ती पधारे, जहाँ वर्षावास किया।

साधना का ग्यारहवाँ वर्ष :

श्रावस्ती का वर्षावास समाप्त हुआ और भगवान् ने वहाँ से विहार कर दिया। सानुलष्ठिय सन्निवेश पधारे और वहाँ सोलह की तपस्या की। विविध रूपों में ध्यान साधना भी की। गाथापति आनंद की दासी द्वारा फेंके जाने वाले भोजन से तपस्या का पारणा किया।

संगमदेव के उपसर्ग :

भगवान् विचरण करते हुए पेढाल नामक उद्यान में पधारे। यहाँ पोलास नामक चैत्य में अष्टम तप कर ध्यानस्थ हो गए। इधर तो भगवान् अपनी साधना में लीन थे और उधर देवराज शक्र ने अपने अवधिज्ञान से भगवान् को ध्यानस्थ देखा तो उन्हें वन्दन कर देव-देवियों की विशाल सभा में भगवान् के धैर्य और साहस की प्रशंसा की। शक्र ने यह भी बताया कि भगवान् महावीर को कोई भी उनकी साधना से विचलित नहीं कर सकता है।

सभा में उपस्थित सभी देवताओं ने इन्द्र की बात का समर्थन किया, किंतु संगम नामक एक देव को इन्द्र की बात पर विश्वास नहीं हुआ। वह

भगवान् की परीक्षा लेने के लिए वहाँ से चलकर भगवान् के समीप आया। उसने भगवान् की साधना भंग करने अर्थात् भगवान् को विचलित करने के लिए उपसर्ग प्रारम्भ कर दिये। उसने भगवान् के रोम-रोम में वेदना उत्पन्न कर दी। प्रलोभन के मनमोहक दृश्य भी उपस्थित किये। भगवान् पर संगमदेव के उपसर्गों का कोई प्रभाव नहीं हुआ। वे अडिग ही बने रहे। संगमदेव ने एक रात में निम्नांकित भयंकर बीस उपसर्ग उपस्थित किये—

(१) प्रलयकारी धूल की वर्षा।

(२) वज्रमुखी चींटियों से भगवान् का शरीर कटवाया।

(३) भगवान् के शरीर का रक्त पीने के लिए डाँस व मच्छर छोड़े।

(४) दीमक उत्पन्न कर भगवान् के शरीर को कटवाया।

(५) बिच्छुओं के डंक लगवाये।

(६) नेवलों द्वारा भगवान् के माँस खण्ड को छिन्न-भिन्न करवाया।

(७) भीमकाय सर्पों से डसवाया।

(८) चूहे उत्पन्न किये जो भगवान् को काटते भी थे और उन पर मल-मूत्र विसर्जन भी करते थे।

(९-१०) हाथी और हथिनी उत्पन्न कर भगवान् को उनकी सूंडों से उछलवाया और उनके दांतों से प्रहार करवाया।

(११) पिशाच बनकर भगवान् को डराया-धमकाया और बर्छी का प्रहार किया।

(१२) बाघ बनकर भगवान् को नखों से विदारण किया।

(१३) सिद्धार्थ और त्रिशला का रूप धारण कर उन्हें करुण विलाप करते हुए दिखाया।

(१४) शिविर की रचना कर भगवान् के पैरों के बीच में आग जलाकर भोजन पकाने की चेष्टा की।

(१५) चाण्डाल का रूप धारण कर भगवान् के शरीर पर पक्षियों के पिंजरे लटकाये, जो चोंचों और नखों से प्रहार करने लगे।

(१६) आँधी उत्पन्न कर अनेक बार भगवान् के शरीर को उठाया।

(१७) कलंकलिका वायु उत्पन्न कर उससे भगवान् को चक्र की भांति घुमाया।

(१८) कालचक्र चलाया जिसके प्रभाव से भगवान् घुटनों तक भूमि में धँस गये।

(१९) देव रूप धारण कर विमान में बैठकर आया और भगवान् से कहा—"तुम्हें स्वर्ग चाहिए अथवा मोक्ष?" और

(२०) एक अप्सरा को लाकर भगवान् के सम्मुख उपस्थित किया। उसकी राग पूर्ण भाव भंगिमा से भी भगवान् विचलित नहीं हुए।

इन उपसर्गों में भी भगवान् अडिग ही रहे। तब भगवान् को विचलित करने के लिए संगम अन्य उपाय करने पर विचार करने लगा। भगवान् का ध्यान पूर्ण हुआ और उन्होंने वहाँ से विहार कर दिया। मार्ग में संगमदेव ने पाँच सौ चोरों को खड़ा कर भयभीत करने का प्रयास किया। अन्य ग्रामों में भी भगवान् के पधारने पर संगम ने उपसर्ग उपस्थित किये। भगवान् को अडिग देखकर वह लज्जित भी हुआ। स्वर्ग जाने में भी उसे लज्जा आ रही थी। संगम छः मास तक भगवान् को कष्ट देता रहा। यहाँ तक कि उसके उपसर्गों के कारण भगवान् को फाँसी तक का दण्ड दिया गया। भगवान् को फाँसी पर चढ़ाया भी गया किन्तु सात बार फाँसी पर चढ़ाने पर भी हर बार फंदा टूट जाता था। यह देखकर सभी दर्शक एवं अधिकारी विस्मय में डूब जाते थे। भगवान् को महापुरुष समझ कर छोड़ दिया गया।

भगवान् सिद्धार्थपुर पधारे। जहाँ संगम ने उन पर चोरी का आरोप लगवाकर पकड़वा दिया किंतु एक व्यापारी ने भगवान् को पहचान कर छुड़वा दिया। इस प्रकार संगमदेव विविध प्रकार के उपसर्गों के द्वारा भगवान् को विचलित करने का प्रयास करता रहा। किंतु उसे अपने प्रयासों में सफलता नहीं मिली। अन्त में उसने अपनी पराजय स्वीकार कर ली और अपने किये के लिए उनसे क्षमा-याचना की। इन्द्र ने संगमदेव को देवलोक से निष्कासित कर दिया।

छः मास की उपसर्ग सहित दीर्घ तपस्या का पारणा भगवान् ने वज्र गाँव में किया। इस अवसर पर देवों ने पंच दिव्य प्रकट कर दान की महिमा गाई। आलंभिया, श्वेतांबिका, सावत्थी, कौशाम्बी, वाराणसी, राजगृह और मिथिला आदि नगरों एवं मध्यवर्ती ग्रामों को पावन करते हुए भगवान् वैशाली पधारे, जहाँ चातुर्मासिक तप के साथ वर्षावास किया।

जीर्ण सेठ की भावना :

वैशाली में जिनदत्त नामक एक श्रेष्ठी था, जिसकी आर्थिक स्थिति कमजोर होने के कारण वह जीर्ण सेठ के नाम से विख्यात हो गया था। जीर्ण सेठ नियमित रूप से भगवान् के दर्शन करने जाता तथा पूर्ण भक्तिभाव एवं श्रद्धा से वह अपने घर पारणा करने के लिए विनती करता। उसकी यह भावना पूरे वर्षावास काल में बनी रही।

वर्षावास की समाप्ति पर भगवान् आहार प्राप्ति के लिए निकले और पूरण सेठ के आवास पर पहुँच गए। पूरण सेठ ने भगवान् को देखा और अपनी सेविका को आदेश दिया। सेविका ने कुलहत्थ बहराये। देवताओं ने पंच दिव्य बरसा कर दान की महिमा प्रकट की और अहोदानं की देव-दुंदुभि भी बज उठी। देव-दुंदुभि की आवाज सुनकर जीर्ण सेठ की भावना टूट गई। वह तो अपने घर पर बैठकर भगवान् के पधारने की प्रतीक्षा कर रहा था। उसकी उत्कट भावना के कारण उसने बारहवें देवलोक के आयुष्य का बंध किया। जब भगवान् से उत्कट दानी के विषय में पूछा गया तो भगवान् ने जीर्ण सेठ को सबसे बड़ा दानी निरूपित किया।

साधना का बारहवाँ वर्ष : चमरेन्द्र द्वारा शरण ग्रहण :

वर्षावास काल की समाप्ति के पश्चात् भगवान् ने वैशाली से विहार कर सुसुमारपुर पधारकर अशोक वृक्ष के नीचे ध्यानलीन हो गए। उस समय शक्रेन्द्र के भय से डरा हुआ चमरेन्द्र भगवान् की शरण में आया। घटना इस प्रकार है—

असुरराज चमरेन्द्र अपने पूर्वभव में पूरण नामक एक बाल-तपस्वी था। वह छट्ठ-छट्ठ का तप करता और पारणे के दिन काष्ठ के चतुष्पुट पात्र में भिक्षा लाता। प्रथम पुट की भिक्षा पथिकों को प्रदान करता। द्वितीय पुट की भिक्षा पक्षियों को चुगाता, तृतीय पुट की भिक्षा जलचरों को देता और चतुर्थ पुट की भिक्षा समभाव से स्वयं ग्रहण करता। बारह वर्ष तक उसने इस प्रकार घोर तप किया और एक मास के अनशन के बाद आयु पूर्ण कर चमरचंचा राजधानी में इन्द्र बना।

इन्द्र बनते ही उसने अवधिज्ञान से अपने ऊपर सौधर्मावतंसक विमान में शक्र नामक सिंहासन पर **शक्रेन्द्र** को दिव्य भोग-भोगते देखा। उसने मन में विचार किया—"यह दुःख को चाहने वाला, अशुभ लक्षणों वाला, लज्जा और शोभा रहित चतुर्दशी को जन्म लेने वाला, हीनपुण्य कौन है? मैं **इसकी शोभा** को नष्ट कर दूँ पर मुझमें इतनी शक्ति कहाँ है?" वह असुरराज सुसुमारपुर नगर के निकटवर्ती उपवन में अशोक वृक्ष के नीचे जहाँ भगवान् महावीर छद्मस्थावस्था के बारहवें वर्ष में ध्यानलीन खड़े थे, वहाँ आया। **उसने** भगवान् **महावीर** की शरण ग्रहण कर शक्रेन्द्र और उनके देवों को कष्ट देने के लिए विराट व विद्रूप शरीर की विकुर्वणा की और सीधा सुधर्मा-सभा के द्वार पर पहुँचकर डराने-धमकाने लगा। शक्रेन्द्र ने भी क्रोधित होकर अपना वज्रायुध उसकी ओर फेंका। आग की चिनगारियाँ उगलते हुए वज्र को अपनी ओर

आते देखकर चमरेन्द्र जिस मार्ग से आया था, उसी मार्ग से लौट गया। शक्रेन्द्र ने अवधिज्ञान से देखा तो पता चला कि यह भगवान् महावीर की शरण लेकर आया है और पुनः वहीं भागा जा रहा है। कहीं यह वज्र भगवान् को कष्ट न दे, एतदर्थ वह शीघ्र ही लेने के लिए दौड़ा। चमरेन्द्र ने अपना सूक्ष्म रूप बनाया और भगवान् महावीर के चरणों में आकर छिप गया। वज्र भगवान् महावीर के निकट तक पहुँचने से पूर्व ही इन्द्र ने वज्र को पकड़ लिया और चमरेन्द्र को भी महावीर की शरण में होने के कारण क्षमा कर दिया।

असुरराज सौधर्म सभा में कभी जाते नहीं किंतु अनन्त काल के पश्चात् अरिहंत की शरण लेकर गए, जिसे जैन साहित्य में आश्चर्य माना गया है।

सुसुमारपुर से विहार कर भगवान् महावीर भोगपुर, नन्दिग्राम को पावन करते हुए मेढ़िया ग्राम पधारे, जहाँ ग्वालों ने अनेक प्रकार उपसर्ग दिये। मेढ़िया ग्राम से विहार कर भगवान् महावीर कौशाम्बी पधारे। पौष कृष्णा प्रतिपदा को भगवान् महावीर ने तेरह बोल का घोर अभिग्रह ग्रहण किया। यथा—

(१) अविवाहित राजकन्या हो।
(२) बाजार में बेची हुई हो।
(३) उसका सिर मुण्डित हो।
(४) उसके सिर में गद के घाव हों।
(५) उसके हाथों में हथकड़ी पड़ी हो।
(६) उसके पैरों में बेड़ी हो।
(७) वह तीन दिन से भूखी हो।
(८) वह भोंहरे में हो।
(९) आधा दिन बीत चुका हो।
(१०) उसका एक पैर देहली में और एक उसके बाहर हो।
(११) सूप के कोने में
(१२) उड़द के बाकले हों,
(१३) उसकी आँखों में आँसू हो।

चन्दनबाला का उद्धार :

उपर्युक्त तेरह बोल का अभिग्रह धारण कर भगवान् प्रतिदिन नगर में भिक्षा के लिए निकलते। भगवान् का अभिग्रह कहीं भी पूरा नहीं हुआ। सम्पूर्ण नगरी में यह आम चर्चा होने लगी कि उनसे ऐसी कौनसी भूल हो गई कि भगवान् बिना कुछ ग्रहण किये ही लौट जाते हैं। चार माह का समय व्यतीत हो गया। भगवान् महावीर भिक्षाटन के अनुक्रम में महामात्य सुगुप्त के यहाँ

भी पधारे। महामात्य की श्रमणोपासिका पत्नी नंदा ने श्रद्धापूर्वक शुभ भावना के साथ आहार देना चाहा। अपना अभिग्रह पूर्ण न होते देख भगवान् महावीर वहाँ से बिना आहार लिये ही चले गए। महामात्य की पत्नी नंदा दुःखी हुई। उसने अपने पति को सब कुछ बताया। उधर महारानी मृगावती को भी यह सूचना मिली। उसने महाराज शतानीक को आवश्यक जानकारी प्राप्त करने के लिए कहा किंतु कुछ भी ज्ञात नहीं हो सका।

पाँच माह व्यतीत हो गए। भगवान् का अभिग्रह पूरा नहीं हुआ। छठा माह भी पूरा होने में था। केवल पाँच दिन ही शेष रहे थे। सदैव की भाँति भगवान् आहार के लिए निकले और धनावह के आवास पर पधारे। भगवान् का अभिग्रह यहाँ चन्दनबाला के हाथों पूरा हुआ और भगवान् ने आहार ग्रहण किया।

चन्दनबाला चम्पा नरेश दधिवाहन की सुपुत्री थी। कौशाम्बी नरेश शतानीक ने दधिवाहन को पराजित कर दिया था, तब उसकी विजयी सेना ने चम्पा को लूटा था। लूट में वे चम्पा की रानी और राजकुमारी चन्दनबाला को भी उठाकर ले गए थे। रानी ने तो मार्ग में रथ से कूद कर आत्मघात कर लिया था और चन्दनबाला को कौशाम्बी लाकर बेच दिया था। नीलामी में सेठ धनावह उसे खरीद लाया था। सेठ धनावह का चन्दनबाला के प्रति पुत्रीवत् प्रेम था। सेठ धनावह की धर्मपत्नी उसके इस पवित्र प्रेम को समझ नहीं पाई और वह चन्दनबाला के प्रति ईर्ष्या रखने लगी। सेठानी ने चन्दनबाला की सुन्दर केश-राशि कटवा दी और उसके हाथ-पैरों में लोहे की जंजीरें डलवा दीं तथा उसे अपने तलघर (गभारे) में बन्द कर दिया। सेठानी उसे भोजन भी नहीं देती थी। सेठ धनावह को चन्दनबाला की दुर्दशा की जानकारी तीन दिन बाद मिली। चन्दनबाला की दुर्दशा देखकर उसका हृदय द्रवित हो गया। वह अपने आवास पर आया। चन्दनबाला को वह उचित खाद्य सामग्री (भोजन) देना चाहता था, किंतु उसने पाया कि खाद्य सामग्री तो भण्डार में बन्द पड़ी है। इस कारण उस समय जो उपलब्ध था, वही चन्दन बाला को खाने के लिए दिया। उस समय उड़द के बाकुले उपलब्ध थे। उन्हें एक सूप में रखकर उसने चंदनबाला को दिये।

चन्दनबाला ने बाकुले वाला सूप अपने हाथ में लिया और वह उन्हें खाने वाली थी कि उसी समय भगवान् महावीर का आगमन हुआ। चन्दनबाला के मन में भगवान् को भेंट करने की प्रबल भावना का उदय हुआ, किंतु वह इस समय भगवान् को क्या भेंट कर सकती थी? स्वयं बेड़ियों में जकड़ी हुई थी, पास में बाकुले जैसी तुच्छ वस्तु के अतिरिक्त और कुछ था ही नहीं। ऐसा सोचते ही उसकी आँखों से अश्रुधारा प्रवाहित हो चली। भगवान् के

दर्शन मात्र से उसे असीम प्रसन्नता का अनुभव हुआ। आंतरिक हर्ष भाव से उसका मुखमण्डल चमक उठा। उसने पूर्ण श्रद्धा और भक्ति-भाव के साथ भगवान् से आहार ग्रहण करने के लिए विनती की। भगवान् का अभिग्रह भी पूर्ण हो रहा था, उन्होंने आहार ग्रहण कर लिया। इससे चन्दनबाला का हर्ष सीमातीत हो गया। उसे अपने विगत जीवन का स्मरण करते-करते वैराग्य उत्पन्न हो गया और कालांतर में वह भगवान् महावीर की शरण में दीक्षित होकर उनकी साध्वी प्रमुखा बनी।

यहाँ एक बात का स्पष्ट उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत होता है। वह यह कि जब भगवान् चन्दनबाला के समक्ष पधारे, तब तेरह बोलों में से एक बोल नहीं मिल पा रहा था। तब भगवान् वापस हो गये थे। भगवान् को लौटकर जाते देख चन्दनबाला की आँखों से अश्रुधारा बह निकली थी। भगवान् ने जब मुड़कर देखा तो पाया कि चन्दनबाला की आँखों में अश्रुधारा है, तब भगवान् के तेरह ही बोल पूर्ण हुए और उन्होंने भिक्षा ग्रहण की। कहा जाता है कि भगवान् के भिक्षा ग्रहण करने के साथ ही चन्दन बाला की लोह शृंखलाएँ स्वतः टूट गई थीं। वे बेड़िया स्वर्णाभूषण के रूप में परिवर्तित हो गई और चन्दनबाला अपने मूल रूप में आ गई।

कौशाम्बी से विहार कर भगवान् महावीर सुमंगला, सुच्छेता, पालक आदि विभिन्न क्षेत्रों को पावन करते हुए चम्पा नगरी पधारे, जहाँ स्वातिदत्त की यज्ञशाला में चातुर्मासिक तप के साथ वर्षावास किया। इस वर्षावास में स्वातिदत्त ने भगवान् से अनेक प्रश्न पूछे, जिनका भगवान् ने समाधान किया।

साधना का तेरहवाँ वर्ष : भीषण उपसर्ग :

वर्षावास समाप्त होने पर भगवान् ने चम्पानगरी से विहार कर दिया। वे छम्माणी पधारकर गाँव के बाहर ध्यानमग्न हो गए। सांध्यकाल में एक ग्वाला अपने बैलों को भगवान के पास छोड़ कर चला गया। ग्वाला जब वापस आया तो उसे अपने बैल वहाँ नहीं मिले। उसने भगवान् से अपने बैलों के सम्बन्ध में पूछा। भगवान् महावीर तो ध्यानलीन थे, भला उन्हें बैलों के सम्बन्ध से क्या लेना-देना? वे ध्यान में थे, मौन ही रहे। भगवान् के मौन रहने से ग्वाला क्रुद्ध हो गया और क्रोधावेश में उसने भगवान् महावीर के कानों में काष्ठ के कीले ठोक दिये। कीले ठोकते समय ग्वाला यह भूल गया कि वह क्या कर रहा है? भगवान् को भयंकर पीड़ा हो रही थी। ऐसा कहा जाता है कि भगवान् महावीर ने अपने त्रिपृष्ठ वासुदेव के भव में एक व्यक्ति के कान में गर्म सीसा डलवाया था। वह व्यक्ति ही यह ग्वाला था।

ध्यान समाप्त होने पर भगवान् ने यहाँ से विहार कर दिया और वे मध्यमा पधारे। आहार गवेषणा के संदर्भ में भगवान् सिद्धार्थ श्रेष्ठी के घर पहुँचे। उस समय श्रेष्ठी वैद्यप्रवर खरक से चर्चा कर रहा था। वैद्य प्रतिभा-सम्पन्न था। शरीर को देखकर रोग बता देता था। उसने भगवान् को देखा, उनके सुन्दर-सुडौल शरीर को देखा और कहा—"इनके शरीर में शल्य है, उसे निकालना हमारा परम कर्त्तव्य है।" श्रेष्ठी और वैद्य दोनों ने भगवान् से विनती की। भगवान् बिना रुके वहाँ से चल दिये और गाँव से बाहर आकर ध्यानमग्न हो गये।

श्रेष्ठी और वैद्य दोनों औषधि आदि सामग्री लेकर भगवान् को खोजते-खोजते उन तक पहुँच गये। भगवान् तो ध्यान में लीन थे। शलाकाएँ (काष्ठ के कीलें) निकालने के पूर्व दोनों ने भगवान् के शरीर का तेल से अच्छी प्रकार मर्दन किया। और फिर संडासी से पकड़ कर दोनों कानों से शलाकायें निकालीं। दोनों कानों से रक्त की धारा प्रवाहित हो चली। कहते हैं कि उस समय अतिवेदना के कारण भगवान् के मुख से चीख निकली, जिससे सारा उद्यान एवं देवकुल संभ्रमित हो गया। वैद्य खरक ने संरोहण औषधि से रक्त बन्द कर दिया। यह उपसर्ग अंतिम उपसर्ग था। यह भी संयोग ही कहा जायेगा कि प्रथम उपसर्ग भी ग्वाले द्वारा किया गया था और अन्तिम उपसर्ग भी ग्वाले व उसके बैलों से सम्बन्ध रखने वाले प्रसंग के कारण हुआ।

एक बात स्पष्ट है कि भगवान् के साधना काल में अनेक उपसर्ग आये किंतु वे समस्त उपसर्गों में शांत ही बने रहे। उन्होंने कभी भी किसी पर भी रोष और द्वेष नहीं किया। विरोधियों के प्रति भी उनके हृदय में स्नेह का सागर लहराता रहता था। सब कुछ उन्होंने समता भाव से सहन किया। देव, दानव, मानव और पशुओं के द्वारा भीषण कष्ट देने पर भी अदीन भाव से, अव्यथित मन से, अम्लान चित्त से, मन, वचन और काया को वश में रखते हुए सब कुछ सहन किया।

छद्मस्थकालीन साधना :

भगवान् महावीर साढ़े बारह वर्ष तक छद्मस्थावस्था में रहे। इस काल में उनके तपों का विवरण इस प्रकार है—

एक छः मासी तप।
एक पाँच दिन न्यून छः मासी।
नौ चातुर्मासिक।
दो त्रिमासिक।
दो सार्धद्विमासिक।
छः द्विमासिक।

दो सार्धमासिक।
बारह मासिक।
बहत्तर पाक्षिक।
एक भद्रप्रतिमा (दो दिन)।
एक महाभद्र प्रतिमा (चार दिन)।
एक सर्वतोभद्र प्रतिमा (दस दिन)।
दो सौ उनतीस छट्ठ भक्त।
बारह अष्टभक्त।
तीन सौ उनपचास दिन पारणे के।
एक दिन दीक्षा का।

भगवान् महावीर ने अपने साधक जीवन के ४५१५ दिनों में से केवल ३४९ दिन आहार ग्रहण किया।

केवलज्ञान की प्राप्ति ;

सतत साधना करते हुए और उग्र से उग्रतम उपसर्ग समतापूर्वक सहन करते हुए तथा विभिन्न तपों से आत्मा को भावित करते हुए भगवान् महावीर को साढ़े बारह वर्ष व्यतीत हो गये। भगवान् महावीर ने मध्यम पावा से विहार किया और जंभिया ग्राम पधारे। वहाँ ऋजुवालुका नदी के तट पर जीर्ण उद्यान के निकट श्यामाक नामक गाथापति के क्षेत्र में सघन शाल वृक्ष के नीचे गोदोहिका आसन से भगवान् आतापना ले रहे थे। वैशाख शुक्ला दशमी के दिन का अन्तिम प्रहर था। उस समय भगवान् की छट्ठ भक्त की निर्जल तपस्या चल रही थी। आत्म-मंथन चरम सीमा पर पहुँच चुका था, क्षपक श्रेणी का आरोहण कर, शुक्लध्यान के द्वितीय चरण में चार घाती कर्मों (मोहनीय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय) की निर्जरा हुई और उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र में भगवान् को केवलज्ञान, केवलदर्शन की उपलब्धि हो गई। भगवान् महावीर सर्वज्ञ हो गये। जिन और अरिहन्त हो गये। भगवान् महावीर को केवलज्ञान की प्राप्ति होते ही सारा संसार अपूर्व प्रकाश से आलोकित हो उठा। सभी दिशायें शान्त एवं विशुद्ध हो गई थीं, मन्द-मन्द सुखकर पवन चलने लगा, देवताओं के आसन चलायमान हुए और वे देव दुंदुभि का गम्भीर घोष करते हुए भगवान् का केवलज्ञान महोत्सव मनाने के लिए पृथ्वी पर आए।

देवताओं ने आते ही भव्य समवसरण की रचना की। भगवान् ने एक क्षण उपदेश दिया। उस समय वहाँ पर मनुष्यों की उपस्थिति नहीं थी, अतः किसी ने भी चारित्र धर्म स्वीकार नहीं किया। इस प्रकार भगवान् की प्रथम देशना निष्फल रही। केवली भगवान् की देशना निष्फलभावी नहीं रहती है किंतु

यहाँ भगवान् महावीर की देशना अप्रभावी रही। इस कारण इसे आश्चर्य माना गया है। अनेक आचार्य ऐसा मानते हैं कि भगवान् की प्रथम देशना में मनुष्यों की उपस्थिति थी किंतु किसी ने भी दीक्षाव्रत अंगीकार नहीं किया। इस कारण इसे आश्चर्य माना जाता है।

मध्यमापावा में समवसरण :

भगवान् महावीर विहार कर मध्यमापावा पधारे। इस समय मध्यमापावा में आर्य सोमिल द्वारा एक विराट यज्ञ का आयोजन किया जा रहा था। इस यज्ञ के लिए उसने उच्च कोटि के विद्वानों को आमन्त्रित किया था। भगवान् के यहाँ पधारते ही देवताओं ने अशोक वृक्ष आदि महाप्रातिहार्यों से भगवान् की महती महिमा की। यहाँ पर पुनः देवताओं द्वारा भव्य समवसरण की रचना की गई। इस समवसरण में देव-दानव और मानव सभी आए। भगवान् ने समवसरण में उच्चासन पर विराजकर अर्धमागधी भाषा में अपनी धर्म-देशना प्रारम्भ की।

भगवान् की धर्मदेशना के पीयूष का पान करने के लिए देवी-देवता समूहों में आकाश मार्ग से आने लगे। देवी-देवताओं के समूह को आकाश से आता देख यज्ञ कर रहे पण्डितों ने यह समझा कि ये उनके यज्ञ में सम्मिलित होने के लिए आ रहे हैं, किंतु जब देवी-देवताओं के समूह वहाँ बिना रुके आगे बढ़ गये तो वे आश्चर्यचकित हुए बिना नहीं रह सके। जब इन पंडितों ने इसका कारण खोजा तो ज्ञात हुआ कि नगर के बाहर केवली भगवान् महावीर पधारे हैं और उन्हीं के समवसरण में ये देवता उनकी वाणी का रसास्वादन लेने जा रहे हैं तो पण्डितों के अहम् को चोट लगी। प्रमुख पण्डित इन्द्रभूति गौतम इसे सहन नहीं कर पाया। उसे अपने पाण्डित्य का बड़ा गर्व था। वह भगवान् के ज्ञान की परीक्षा करने और उन्हें परास्त करने की भावना के साथ समवसरण की ओर चल पड़ा। इस समय उसके साथ उसके पाँच सौ शिष्य भी थे। भगवान् उस समय समवसरण में विराजकर अपनी धीर-वीर-गम्भीर वाणी में देशना फरमा रहे थे। इन्द्रभूति के समवसरण के द्वार पर पहुँचते ही भगवान् महावीर की वाणी उसके कर्ण-कुहरों में पड़ी और उसे ऐसा लगा कि उसके मन में रही हुई शंका का समाधान मिल जायेगा। भगवान् की देशना सुनते-सुनते उसका अहं गलने लगा। तभी वह सचेत हुआ। अरे! मैं तो यहाँ शास्त्रार्थ कर इन्हें पराजित करने आया हूँ, फिर यह कैसा परिवर्तन हो रहा है? नहीं, अब कोई परिवर्तन नहीं होगा। वह आगे बढ़ा। भगवान् महावीर के कुछ निकट पहुँचा। तभी उसके कर्ण-कुहरों में शब्द पड़े—"आओ इन्द्रभूति! आओ! मैं जानता था कि तुम यहाँ आओगे।"

इन्द्रभूति सोच में पड़ गया। इन्हें मेरा नाम कैसे मालूम हुआ? तभी अहंभाव जागृत हुआ। मैं विख्यात विद्वान हूँ। इस जनपद का बच्चा-बच्चा मुझे जानता है। मेरी विद्वत्ता के कारण ये भी मुझे जानते हैं, इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। फिर उसने सुना, भगवान् महावीर उसके मन में रही शंका की बात कह रहे थे। वे कह रहे थे—"विद्वान होते हुए भी तुम्हारे मन में जीव के अस्तित्व के प्रति संदेह है।" मेरे मनोगत भावों को इन्होंने कैसे जान लिया? यह विचारणीय है। इसके पश्चात् भगवान् महावीर और इन्द्रभूति में जो संवाद हुआ, उसमें न केवल उसकी शंका का समाधान हुआ वरन् उसका अहम् चूर-चूर हो गया और वह भगवान् के चरणों में समर्पित हो गया। उसने भगवान् का शिष्यत्व स्वीकार कर लिया। इसका अनुकरण उसके शिष्यों ने भी किया। वे भी भगवान् महावीर के श्री चरणों में समर्पित हो गए।

जब अवशिष्ट दस पण्डितों ने इन्द्रभूति गौतम और उसके शिष्यों द्वारा भगवान् महावीर का शिष्यत्व स्वीकार करने की बात सुनी तो वे भी भगवान् महावीर की सेवा में आए और अपने-अपने संदेहों का समाधान पाकर उनकी सेवा में अपने शिष्यों सहित समर्पित हो गए। ये ग्यारह ही प्रमुख पंडित भगवान् महावीर के ग्यारह गणधर हुए। इनके शिष्यों की संख्या तथा इनके मन में रहे हुए संदेह का विवरण इस प्रकार है—

गणधर	शिष्य	संदेह
१. इन्द्रभूति	५००	जीव/आत्मा का अस्तित्व
२. अग्निभूति	५००	पुरुषाद्वैत/कर्म का अस्तित्व
३. वायुभूति	५००	आत्मा और शरीर का भेद
४. व्यक्त	५००	शून्यवाद का निरास
५. सुधर्मा	५००	इहलोक और परलोक की विचित्रता
६. मंडित	३५०	बंध और मोक्ष
७. मौर्यपुत्र	३५०	देव और देवलोक
८. अकम्पित	३००	नारकी का अस्तित्व
९. अचलभ्राता	३००	पुण्य-पाप का सद्भाव
१०. मेतार्य	३००	परलोक का सद्भाव
११. प्रभास	३००	निर्वाण की सिद्धि

इस प्रकार यहाँ भगवान् महावीर की धर्म-देशना श्रवण कर चार हजार चार सौ ग्यारह ब्राह्मणों ने जैन भागवती दीक्षा अंगीकार की। राजकुमारी चन्दनबाला भी इस समय यहाँ आ गई थी। उसने तथा कुछ अन्य नारियों ने भी दीक्षाव्रत अंगीकार किया। अनेक व्यक्तियों ने इस अवसर पर श्रावक तथा

श्राविका धर्म स्वीकार किया। इस दिन अर्थात् वैशाख शुक्ला एकादशी को भगवान् ने चतुर्विध धर्म-संघ की स्थापना की और भगवान् महावीर भाव तीर्थंकर कहलाये।

तीर्थ स्थापना के पश्चात् भगवान् ने वहाँ से विहार किया और वे राजगृह पधारे। जब भगवान् महावीर के राजगृह पदार्पण की सूचना वहाँ के महाराजा श्रेणिक को मिली तो वह सपरिवार पूरे राजसी ठाट-बाट के साथ भगवान् महावीर के दर्शन करने आया। भगवान् महावीर ने इस वर्ष का वर्षावास राजगृह में ही किया। इस वर्षावास में राजकुमार मेघ तथा नंदीषेण ने भगवान् महावीर के चरणों में दीक्षाव्रत अंगीकार किया।

केवली पर्याय के दूसरे वर्ष में भगवान् महावीर ने वैशाली में वर्षावास किया। इसके पूर्व राजगृह का वर्षावास समाप्त होने पर विचरण करते हुए भगवान् ब्राह्मण कुण्डग्राम पधारे। जहाँ ऋषभदत्त एवं देवानंदा भगवान् के दर्शन करने आए, उन्होंने भगवान् की देशना सुनकर दीक्षाव्रत अंगीकार कर लिया। ब्राह्मण कुण्ड से भगवान् महावीर का पदार्पण क्षत्रिय कुंड नगर में हुआ। जहाँ राजकुमार जमालि, जो उनके संसार-पक्षीय जामाता थे, ने पाँच सौ क्षत्रिय कुमारों के साथ संयम व्रत अंगीकार किया। राजकुमारी प्रियदर्शना (भगवान् महावीर की पुत्री) ने भी एक हजार अन्य नारियों के साथ दीक्षा ग्रहण की।

केवली भगवान् महावीर केवलज्ञान प्राप्ति के पश्चात् निरन्तर विचरण करते रहे और प्राणिमात्र के कल्याण के लिए उपदेश देते रहे। भगवान् को तत्कालीन परिस्थितियों का सूक्ष्म ज्ञान था। वे अच्छी प्रकार जानते थे कि उस समय का व्यक्ति अज्ञान में जी रहा है। धर्म के नाम पर कर्मकांड और यज्ञ हो रहे हैं, जिनमें मूक पशुओं की बलि दी जा रही है और इस प्रकार हिंसा का तांडव हो रहा है। भगवान् ने ऐसे समय अहिंसा धर्म का प्रचार कर लोगों को समझाया और अहिंसा धर्म को प्रतिष्ठित किया। सामान्य बोलचाल की भाषा में (प्राकृत भाषा में) जब भगवान् उपदेश फरमाते तो लोग सहज ही समझ जाते थे। धर्म का मर्म भी उनके गले उतर जाया करता था। परिणामस्वरूप आम जनता उनकी ओर आकर्षित हो गई।

भगवान् ने अपरिग्रह को भी जन-जन के समक्ष स्पष्ट किया। अपनी आवश्यकता से अधिक हो तो उसे शेष समाज के लिए छोड़ दो। यह सामान्य बात जनता समझ गई। यदि यह सिद्धान्त अपना लिया जाता है तो समाज में व्याप्त विषमता समाप्त हो सकती है। वर्ग भेद समाप्त हो सकता है। समतावादी

समाज की स्थापना हो सकती है। भगवान् के उपदेशों का प्रभाव पड़ा और लोग कर्मनिष्ठ बनने लगे।

भगवान् महावीर ने उस समय प्रचलित भाग्यवाद का भी विरोध किया। भगवान् ने इसके विपरीत कहा कि मनुष्य स्वयं अपने भाग्य का निर्माता है। वह स्वयं जैसा बनना चाहता है, अपने कर्म के द्वारा बन सकता है। इसके साथ ही भगवान् ने जनता के समक्ष ईश्वर के वास्तविक स्वरूप का परिचय भी प्रस्तुत किया। उन्होंने यह भी स्पष्ट किया कि ईश्वर किसी को कष्ट नहीं देता है। सुख-दुःख तो मनुष्य के स्वयं के द्वारा किये गए कर्मों का प्रतिफल है। मनुष्य जैसा करता है, उसके अनुरूप ही इसे उसका फल मिलता है। वह शुभ कर्म करेगा तो उसका फल भी शुभ ही होगा। यदि कर्म अशुभ है तो फल शुभ कैसे हो सकता है? इसी प्रकार कोई भी व्यक्ति किसी उच्च कुल में जन्म लेने से श्रेष्ठ नहीं हो जाता। उसकी श्रेष्ठता का निश्चय तो उसके कर्मों के द्वारा होता है।

भगवान् ने जातिवाद को भी निर्मूल किया। उन्होंने बताया कि जब सब समान हैं तो फिर जातियाँ कहाँ से आ गईं। जब श्रेष्ठता अथवा हीनता का निर्धारण कर्म से होता है तो फिर कुल अथवा वंश का आधार कैसे? जब तक मनुष्य में सद्गुण नहीं होंगे, तब तक उसे मानव कैसे कहा जा सकता है?

भगवान् ने इसी प्रकार के अपने अन्य सिद्धान्तों का भी प्रचार-प्रसार किया। आपने अनेकांत सिद्धान्त के आधार पर भी आम जनता को अज्ञानांधकार से बाहर निकालने का प्रयास किया। पार्श्वनाथ भगवान् के चातुर्याम धर्म के स्थान पर पंच महाव्रतों के पालन पर जोर दिया। चातुर्याम धर्म में अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह का पालन करने का प्रावधान था। ब्रह्मचर्य को अपरिग्रह के अन्तर्गत ही माना जाता था। भगवान् महावीर ने ब्रह्मचर्य की महत्ता को देखते हुए उसे पाँचवें व्रत के रूप में प्रतिष्ठित किया।

भगवान् महावीर ने अपने केवली जीवन में दुर्गम क्षेत्रों में भी विचरण कर जन-जन के कल्याण के लिए उपदेश दिये।

गोशालक का उद्धार :

अपने केवली पर्याय के पन्द्रहवें वर्ष में भगवान् ने गोशालक का उद्धार किया। गोशालक भगवान् से अलग हो गया था और सोलह वर्ष के पश्चात् दोनों एक ही स्थान पर विराजमान रहे। गोशालक अपने आपको सर्वज्ञ और तीर्थंकर के रूप में प्रचारित करता रहता था। जब श्रावस्ती में इन्द्रभूति गौतम ने दो तीर्थंकर विराजने की बात सुनी तो उसने भगवान् से इस विषयक प्रश्न

किया। भगवान् महावीर ने बताया कि वह न तो केवली है और न ही तीर्थंकर। वह तो आडम्बर उपस्थित करने वाला है। जब गोशालक को यह ज्ञात हुआ तो वह भगवान् के समीप आकर अनर्गल बातें करने लगा। भगवान् के दो शिष्यों—सर्वानुभूति और सुनक्षत्र उसकी बकवास को सहन नहीं कर पाये और उसका प्रतिरोध करने लगे। क्रोधावेश में गोशालक ने उन पर तेजोलेश्या का प्रयोग किया। दोनों शिष्य उसमें भस्म हो गये। गोशालक ने तेजोलेश्या का प्रयोग भगवान् पर भी किया, किंतु तेजोलेश्या भगवान् के निकट पहुँचने से पहले ही लौटकर गोशालक की ओर बढ़ी। करुणानिधान, दया के सागर, क्षमावीर भगवान् ने इससे गोशालक की रक्षा करते हुए कहा कि गोशालक मेरी आयु को कोई भी घटा-बढ़ा नहीं सकता, अभी मेरी आयु काफी शेष है। किंतु तेरी आयु के केवल सात दिन ही शेष हैं। इसलिए सत्य को समझकर उसके अनुकूल व्यवहार करने का प्रयास कर।' भगवान् ने गोशालक को सत्य के दर्शन कराये किंतु क्रोधावेश में होने के कारण वह भगवान् की वाणी के प्रभाव से वंचित रहा। अपने अन्तिम समय में उसे सत्यता का आभास हो गया। अपने कुकृत्यों के लिए उसे दुःख हुआ। उसने अपने शिष्यों के समक्ष यह स्वीकार किया कि उसने भगवान् महावीर का अपमान करके घोर अपराध किया है। महापाप किया है। प्रायश्चित्त स्वरूप उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके शरीर को श्रावस्ती की सड़कों पर घसीटा जाये और उसने अपने शिष्यों को भगवान् की शरण में जाने का निर्देश दिया।

सातवें दिन गोशालक की मृत्यु हो गई। उसके द्वारा किये गये प्रायश्चित्त से वह कर्म-बन्धनों से मुक्त हो गया और अन्तिम समय में रहे शुभ भावों के परिणामस्वरूप उसे सद्गति प्राप्त हुई।

वैसे तो भगवान् महावीर की केवली पर्याय का एक-एक वर्ष क्या, एक-एक दिन महत्त्वपूर्ण है किंतु हम यहाँ उन सबका विस्तृत विवरण नहीं दे रहे हैं। फिर भी भगवान के केवली पर्याय के चौबीसवें वर्ष की एक घटना का उल्लेख करना उचित समझते हैं। यह घटना जैन धर्म के दस आश्चर्यों में गिनी जाती है।

भगवान् महावीर कौशाम्बी में विराजमान थे। चन्द्र-सूर्य भगवान् के दर्शन करने अपने मूल विमान से नहीं आते हैं किंतु यहाँ चन्द्र-सूर्य अपने मूल विमान से भगवान के दर्शन करने आए। जिस समय चन्द्र-सूर्य भगवान् के समवसरण में आए, उस समय सती मृगावती भी वहीं बैठी हुई थी। यद्यपि रात हो गई थी, तथापि प्रकाश के कारण उसे यह ज्ञात नहीं हो पाया। वह भगवान् की

वाणी सुनने के लिए बैठी रही। जब चन्द्र-सूर्य चले गये तो उसे रात होने का ज्ञान हुआ। वह अपने स्थान पर गई। वहाँ सती शिरोमणि चन्दनबाला ने उसे उपालम्भ दिया। सती मृगावती आत्मालोचन में इतनी तल्लीन हो गई कि उसे केवलज्ञान हो गया।

जब चन्दनबाला को यह ज्ञात हुआ कि उसने एक केवली की आशातना की है तो वह भी प्रायश्चित्त करने लगी और उसका प्रायश्चित्त इतनी उच्चता पर पहुँच गया कि उसे भी केवलज्ञान की उपलब्धि हो गई। इस प्रकार एक ही रात्रि में दो महासतियों को केवलज्ञान की उपलब्धि हुई।

भगवान् महावीर ने अपने केवली पर्याय में अनेक लोगों का उद्धार किया। अनेक राजा-महाराजा-राजकुमार आदि के साथ हजारों लोगों ने उनके श्री चरणों में संयमव्रत अंगीकार किया। अनेक लोगों ने श्रावक धर्म स्वीकार किया। अनेक लोगों ने अपनी जिज्ञासाओं का समाधान प्राप्त किया। भगवान् के जीवन काल में ही उनके अनेक शिष्यों को केवलज्ञान की उपलब्धि भी हुई और अनेक मोक्ष भी पधारे। भगवान् महावीर के प्रधान शिष्य और प्रथम गणधर इन्द्रभूति गौतम को उनके जीवन काल में कैवल्य की प्राप्ति नहीं हो सकी। कारण गौतम का भगवान् के प्रति अधिक ममत्व भाव था।

परिनिर्वाण :

भगवान् महावीर ने अपना निर्वाण समय सन्निकट जानकर अपने प्रधान शिष्य और प्रथम गणधर इन्द्रभूति गौतम को देवशर्मा नामक ब्राह्मण को प्रतिबोध देने के लिए अन्यत्र भेज दिया था। इसका कारण यह था कि उनके निर्वाण के समय गौतम अधिक स्नेहाकुल न हो। भगवान् की आज्ञा के परिपालन में इन्द्रभूति ने देवशर्मा के वहाँ जाकर उसे प्रतिबोध दिया। इसके पश्चात् वे लौटना चाहते थे किंतु रात्रि होने के कारण लौट नहीं सके। अर्द्ध रात्रि व्यतीत हो जाने के पश्चात् उन्हें समाचार मिला कि भगवान् महावीर का निर्वाण हो गया है। भगवान् के निर्वाण के संमाचार को सुनते ही इन्द्रभूति शोकमग्न हो गए। वे स्नेह-विह्वल हो गये। वे कहने लगे—"भगवन्! आपने यह क्या किया? आप तो अपना अन्तिम समय जानते थे, फिर ऐसे समय आपने मुझे, अपने इस सेवक को अपने आपसे दूर क्यों भेज दिया? क्या मेरा स्नेह झूंठा था? क्या मैं आपके मोक्ष-गमन में बाधा उपस्थित करता? अब जब आप नहीं रहे तो मैं अपनी मनोगत शंकाओं का समाधान किससे प्राप्त करूँगा? किसके चरणों में अपना मस्तक झुकाकर नमन करूँगा और अब मुझे कौन गौतम, गौतम कहकर पुकारेगा?" इस प्रकार गौतम की भावना का प्रवाह बह रहा था और तभी विवेक जागृत हुआ। "यह कैसा मोह है? भगवान् तो

वीतराग थे, उनमें मोह कैसा? हाँ, यह मेरा एकपक्षीय मोह है।" उनके चिन्तन का प्रवाह परिवर्तित हुआ और चिंतन की परिणति में उसी रात्रि में उन्होंने घाती कर्मों का क्षय कर केवलज्ञान का उपार्जन किया। वे सर्वज्ञ बन गये।

अपने निर्वाण के पूर्व भगवान् महावीर निरन्तर दो दिन तक उपदेश देते रहे। नौ लिच्छवी, नौ मल्ल और काशी कौशल के अठारह राजा वहाँ उपस्थित थे, जो सभी पौषध व्रत के साथ भगवान् की वाणी का अमृत पान कर रहे थे। इस अवसर पर असंख्य अन्य व्यक्ति भी उपस्थित होकर भगवान् के उपदेशामृत का पान कर रहे थे।

वह दिन ई.पू. 527 की कार्तिक कृष्णा अमावस्या का दिन था। बहत्तर वर्ष की आयु पूर्ण कर भगवान् ने समस्त कर्मों का क्षय किया और निर्वाण पद पर प्रतिष्ठित हुए। वे सिद्ध-बुद्ध और मुक्त हो गये।

भगवान् द्वारा लोक में केवलज्ञान द्वारा किये गये अनिर्वचनीय उद्योत की स्मृति में दीप-महोत्सव के रूप में जनगण ने द्रव्योद्योत किया। उस दिन जब दीप जलाकर प्रकाश किया गया, तभी से दीपावली पर्व प्रारम्भ हुआ। कार्तिक कृष्णा अमावस्या के दिन प्रति वर्ष आज भी बड़ी धूमधाम से यह पर्व मनाया जाता है।

धर्म-परिवार :

भगवान् महावीर के धर्म-परिवार का विवरण इस प्रकार है—

गणधर एवं गण	११ गणधर और ९ गण
केवली	७००
मनःपर्यवज्ञानी	५००
अवधिज्ञानी	१३००
चौदह पूर्वधारी	३००
वादी	४००
वैक्रिय लब्धिधारी	७००
अनुत्तरोपपातिक मुनि	८००
साधु	१४,०००
साध्वियाँ	३६,०००
श्रावक	१,५९,०००
श्राविकायें	३,१८,०००

भगवान् महावीर के शासन में सात सौ साधुओं और चौदह सौ साध्वियों ने निर्वाण प्राप्त किया।

संदर्भ ग्रन्थ

(१) कल्प सूत्र—आचार्य श्री देवेन्द्र मुनि जी।

(२) जैन धर्म का मौलिक इतिहास, प्रथम भाग—आचार्य श्री हस्तिमल जी मसा.।

(३) ऋषभदेव : एक परिशीलन—आचार्य श्री देवेन्द्र मुनि जी मसा.।

(४) भगवान् अरिष्टनेमि एवं कर्मयोगी श्री कृष्ण : एक अनुशीलन—आचार्य श्री देवेन्द्र मुनि जी मसा.

(५) भगवान् पार्श्वनाथ : एक समीक्षात्मक अध्ययन—आचार्य श्री देवेन्द्र मुनि जी मसा.।

(६) भगवान् महावीर : एक अनुशीलन—आचार्य श्री देवेन्द्र मुनि जी म.।

(७) चौबीस तीर्थंकर : एक पर्यवेक्षण—उपाध्यायवर्तक डा. राजेन्द्र मुनिजी मसा.।

(८) तीर्थंकर चरित्र :—मुनि श्री सुमेर मल लाडनूं।

□□□